चतुर्थ अध्याय

हबीब तनवीर के नाटक : रंगमंचीय आयाम

4.1 लोक शैलियों और लोक तत्त्वों का प्रयोग

'लोक' शब्द का एक लम्बा इतिहास रहा है। प्राचीन काल से लेकर अब तक हम 'लोक' का अर्थ सामान्य जन के रूप में देखते हैं। 'ऋग्वेद' के पुरुषसूक्त में 'लोक' शब्द जीव और स्थान दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। पाणिनी कृत 'अष्टाध्यायी', पतंजलि कृत 'महाभाष्य' तथा भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' में 'लोक' शब्द का प्रयोग शास्त्रोत्तर, वेदोत्तर तथा सामान्यजन के सन्दर्भ में किया गया है। हम देखते हैं कि पाणिनी काल में वेद परिपाटी एवं लोक परम्परा का एक पृथक रूप मुखरित हो चुका था। 'श्रीमद्भागवतगीता' में प्रयुक्त 'लोक समूह' शब्द का अर्थ भी साधारण जन के आचरण तथा आदर्श से ही है। प्राकृत, अपभ्रंश और भक्ति साहित्य काल में भी लोक शब्द वेद के प्रतिकूल जनसाधारण की परम्परा की ओर संकेत करता है।[1] इस प्रकार भारत के प्राचीन (संस्कृत) साहित्य में 'लोक' की प्रयोग परम्परा इन्हीं अर्थ छायाओं से अनुशासित है। 'लोक' का ही विकसित रूप बोलचाल में 'लोग' है। *''सांस्कृतिक प्रवाह के रूप में लोक की स्थिति देखने पर स्पष्ट होगा कि यह शब्द (लोक) उस मानव समूह का बोध कराता है जो आदिम समाजों, ग्रामीण समाजों तथा नागरिक समाजों में एक समान रूप से निवास करने वाला कोई भी मानव समूह हो सकता है।''*[2]

देखा जाए तो 'लोक' में समाज की सामूहिक संवेदना, अनुभूति तथा सृजनात्मकता

---

1 भारती, ओमप्रकाश; बिहार के पारंपरिक नाट्य; उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलाहबाद; संस्करण 2007; पृ. 17

2 दईया, पीयूष (सं.); लोक : भारतीय लोक कला मंडल उदयपुर (राज.), संस्करण 2002, पृ. 374

निहित है। इसमें व्यक्ति महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि सभी के सहयोग और संघर्ष से उत्पन्न रागात्मकता, लयात्मकता और रसात्मकता महत्त्वपूर्ण है। कृषि जीवन, लोकशास्त्र ज्ञान, साहित्य कला के नाना रूप, भाषाएँ और शब्दों के भंडार, जीवन के आनंदमय पर्वोत्सव, गीत-संगीत, नृत्य, आचार-विचार आदि सभी कुछ 'लोक' में समाहित है। स्थूल रूप में 'लोक' का संकेत साधारण जन के एक ऐसे समूह की ओर होता है जो केंद्र या मुख्यधारा में नहीं रहा।

सामान्यतः हिंदी का 'लोक' शब्द अंग्रेजी के 'फोक' का रूपांतरण है। विभिन्न विद्वानों द्वारा इस शब्द के कई अर्थ प्रस्तुत किये गए हैं। किसी ने इसे 'जन' का पर्याय माना है, किसी ने 'ग्राम' या 'नगरी' की सीमित परिधि के अंतर्गत इसे परिभाषित किया। किसी ने तो अशिक्षित और अल्प सभ्य व्यक्तियों के वर्ग को 'लोक'(फोक) के अंतर्गत समाहित कर दिया। यहां कुछ विद्वानों की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं।

लोक साहित्य के मर्मज्ञ डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार *"लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।"*[3] इस कथन की अंतिम पंक्तियों में हम सम्पूर्ण लोक शब्द की व्याख्या को देख सकते हैं। यहां लोक को जीवित संज्ञा से अभिहित किया है। इसमें परम्परा का योग करने से लोक का अर्थ परम्परागत जीवित संसार हो गया है, जो कहीं अधिक व्यापक और मूल्यवान हो उठा है।

संस्कृति की विशेषता को प्रतिपादित करते समय 'लोक' शब्द ग्राम्य माना जाता रहा। लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी 'लोक' के इस अर्थ से सहमत नहीं दिखते। वे लिखते हैं कि, *"'लोक' शब्द का अर्थ ग्राम्य नहीं बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत,रूचि संपन्न तथा*

[3] निरगुणे, वसंत; लोक संस्कृति; मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, मध्यप्रदेश; संस्करण 2012, पृ. 31

सुसंस्कृत समझे जाने वालों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उन्हें उत्पन्न करते हैं।''[4] रामविलास शर्मा के शब्दों में *''लोक' विशेष रूप से हमारे इस विश्व की जड़चेतन पदार्थ-सत्ता और विशेषकर समग्र सामान्य मनुष्य जाति का बोधक है, जिससे कालकर्म से परिष्कृत अभिजात्य, विशेष धन सम्पन्न और अर्जित बौद्धिक सामर्थ्यशाली लघुतर वर्ग कुछ अलग पड़ जाता है।''*[5]

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने इस सन्दर्भ में कथन है, *''जो लोक संस्कृत या परिष्कृत वर्ग से प्रभावित न होकर अपनी पुरातन स्थितियों में रहते हैं, वे लोक होते हैं।''*[6]

डॉ.श्याम परमार का मानना है कि *''लोक साधारण जन-समाज है जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्ग-भेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं, श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विवेचन का द्योतक है। भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है किन्तु लोक दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है। वही समाज का गतिशील अंग है।''*[7]

'लोक' शब्द को परिभाषित करने वाले उक्त विचारों का मूल्यांकन करने पर हम पाते हैं कि जो अविच्छिन प्रवाह में रह कर आचार–विचार को पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा से प्राप्त करता है, आधुनिकता से थोड़ा दूर है, प्रकृति से आत्मीय सम्बन्ध रखने वाला, अपनी अभिव्यक्ति में अकृत्रिम, सहज और सरल है, शास्त्रीय ज्ञान, वैयक्तिकता से बिल्कुल भिन्न जन-समुदाय है, वह

---

4 देसाई, डॉ . बापूराम; लोक साहित्यशास्त्र; विकासन प्रकाशन, कानपुर, उत्तरप्रदेश; संस्करण 2004, पृ. 14

5 तिवारी, कपिल (सं.); चौमासा; अंक 85, मार्च-जून 2011; पृ. 77

6 देसाई, डॉ. बापूराम; लोक साहित्यशास्त्र, विकाशन प्रकाशन, कानपुर, उत्तरप्रदेश; संस्करण 2004, पृ. 14

7 कौड़ा, डॉ. स्वामी प्यारी; हिंदी नाटक और रंगमंच में लोकतत्त्व; सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली; संस्करण 2013, पृ. 7

'लोक' है। इसमें जन-सामान्य की समस्त व्यावहारिक और कलात्मक गतिविधियां शामिल हैं। ये गतिविधियाँ परम्परागत और संस्कारनिष्ठ तो हैं ही साथ में अलिखित भी हैं। इनमें युगानुरूप बदलाव लाने की भी अद्भुत क्षमता होती है।

सामान्यतया किसी भी देश की लोक संस्कृति, उसकी शैलियाँ एक जीवंत संस्कृति होती हैं जो लोगों को जोड़ने में विश्वास रखती हैं। यह संस्कृति सदियों से श्रमशील समाज के संवेगात्मक आवेगों, उनकी अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति है। उनके गीत, नृत्य दिल को छू लेते हैं। इसमें पर्व-त्यौहार, उत्सव, विश्वास, मान्यताएं सभी कुछ सम्मिलित हैं। लोक संस्कृति के ये विविध अंगोपांग ही, जो लोकजीवन में परम्परागत आदिम संस्कारों के रूप में वर्तमान रहते हैं, 'लोकतत्त्व' कहलाते हैं। ये लोकतत्व शास्त्रीयता से दूर सहज और कोमल मनोभावों को अभिव्यक्त करने का साधन हैं। जिसके माध्यम से मानव चित्त में उमड़ रहे भावों को नवीन गति व दिशा प्रदान कर अभिव्यंजित किया जा सकता है।

यही कारण है कि आधुनिक हिंदी नाटकों में लोकतत्त्वों का भरपूर प्रयोग अपनी युग संवेदना के सन्दर्भ में किया गया। वास्तव में सामूहिक रूप की छाया में अंकुरित-उल्लसित होती लोक संस्कृति के द्योतक लोकतत्त्वों में सामान्य जन की आशाओं का स्वर है तथा आत्म भावों से सम्बंधित सामग्री भी। इसमें गंभीर सामूहिक प्रभाव डालने की शक्ति विद्यमान है। लोकतत्व का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है जिसे विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने अनुसार वर्गीकृत किया है। डॉ. सत्येन्द्र ने 'लोकतत्व' के विषय को तीन भागों में वर्गीकृत किया है।

- **विश्वास और आचरण** : पृथ्वी और आकाश से, वनस्पति जगत से, पशु जगत से, मानव से, मानव निर्मित वस्तुओं से, आत्मा तथा दूसरे जीवन से, परामानवी, शक्तियों से, शकुनों, अपशकुनों, भविष्यवाणी, आकाशवाणी से, जादू-टोनों से, स्थानों की कला से।

- **रीति-रिवाज** : सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएं, व्यक्तिगत जीवन के अधिकार, व्यवसाय धंधे, तिथियाँ, व्रत तथा त्यौहार , खेलकूद तथा मनोरंज, कहानियां गीत तथा कहावतें।
- **कहावतें** : जो सच्ची मानकर कही जाती हैं, जो मनोरंजन के लिए होती हैं, गीत सभी प्रकार के, कहावतें तथा पहेलियाँ, पदबद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें।[8]

डॉ. श्याम परमार ने 'लोकतत्व' के विषय का वर्गीकरण निम्न रूप में किया है-

- लोक गीत, पहेलियाँ, कहावतें, लोककथाएँ
- रीति-रिवाज, त्यौहार, पूजा, अनुष्ठान, व्रत
- जादू-टोना, टोटके, भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास
- लोकनृत्य, लोकनाटक तथा आंगिक अभिव्यक्ति
- बालक-बालिकाओं के विभिन्न खेल
- ग्रामीण एवं आदिवासियों के खेल आदि। [9]

देखा जाए तो विद्वानों ने लोकतत्त्वों को समान रूप से वर्गीकृत किया है, अंतर केवल कथन की प्रणाली का ही है। ये लोकतत्त्व जीवन व्यापी है और प्रत्येक व्यक्ति में उसके जन्म से ही बद्धमूल है अर्थात् ये उसकी प्रकृति के ही अंग हो गए हैं। इस अध्ययन के बाद हम लोकतत्त्व के प्रमुख विधायक अंगों को निम्न रूपों से देख सकते हैं- लोककथा, लोकगाथा, लोक रूढ़ि, लोक विश्वास, लोक गीत, लोकनाट्य, लोक भाषा आदि।

---

[8] कौड़ा, डॉ. स्वामी प्यारी; हिंदी नाटक और रंगमंच में लोकतत्त्व; सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली; संस्करण 2013, पृ. 17

[9] शर्मा, श्रीराम; लोकसाहित्य स्वरूप और मूल्यांकन; निर्मल प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 1997; पृ. 49

लोक कथा

किसी भी देश के लोक सांस्कृतिक परिदृश्य को जानने-समझने के लिए कथाएं अन्यतम मानक हैं। लोक जीवन की समस्त उपलब्धियां और त्रासदियाँ इन कथाओं में मिलती हैं। जीवन की पूर्णता को समेटे इन कथाओं में जनमानस का हर्ष-विषाद, आस्था-वैराग्य, कर्म-आलस्य, पर्व-उत्सव, ईर्ष्या-द्वेष, आनंदमूलक क्षण सभी कुछ समाहित हैं। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि *"लोककथा मोटे तौर पर लोक प्रचलित उन कथानकों के लिए व्यवहृत होता है, जो मौखिक या लिखित परम्परा से क्रमशः एक पीढ़ी से दूसरी को प्राप्त होते रहे हैं।"*[10] इसमें व्याप्त मनोरंजनात्मक और कल्पनात्मक तत्त्व मनोविज्ञान की देन हैं जिसके फलस्वरूप इन कथाओं में देवी देवताओं, राक्षसों, दानवों आदि का एक विशेष स्थान है।

लोक गाथा

हमारे देश में गाथा गायन की परम्परा बहुत प्राचीन है। लोकगाथा में ऐसे उदात्त चरित्रों को आधार बनाया जाता है जो लोक आदर्श का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ लोकगाथाओं में चरित नायक के जीवन की एक घटना ही होती है तो कुछ में नायक का सम्पूर्ण जीवन। लोकगाथा उस स्थान की, जहाँ वह गाई जाती है, सांस्कृतिक परम्पराओं का दिग्दर्शन कराती है। लोकगाथा जनसम्पति है। इसमें सामूहिक भावभूमि का महत्त्व है। वास्तव में लोकगाथा अभिजात्य प्रबंध काव्य का आधार है। यह जीवंत साहित्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

लोक विश्वास

लोकतत्त्व के अंतर्गत लोक-विश्वासों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब कोई विश्वास व्यष्टिगत रूप से निकलकर समष्टिगत हो जाता है, तब वह लोक विश्वास बन जाता है। लोक विश्वास

---

[10] रंजन; अंगिका लोक-साहित्य; शब्दसृष्टि प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2009, पृ. अनुवादकीय से

अच्छे और बुरे दोनों तरह के होते हैं। लोक में व्याप्त शकुन-अपशकुन, रीति-रिवाज, जादू-टोना, तंत्र-मन्त्र, अन्धविश्वास, झाड़-फूंक, भूत-प्रेत, देवी-देवता आदि लोक विश्वासों की सीमा में आते हैं। इन विश्वासों को तर्क और बुद्धि की तुला पर तौला नहीं जा सकता। ये सदैव मान्य और प्रचलित रहे हैं।

लोक गीत

लोकगीत भी लोकतत्त्व का एक अभिन्न हिस्सा है। मानव जब भाव विभोर होकर अपने हृदययोद्गारों को छंदोबंध शब्दों में अभिव्यक्त करता है, तब उसे गीत की संज्ञा दी जाती है। लोकगीतों में प्रायः जीवन का प्रत्येक क्षण मुखरित होता हैं। इन गीतों में किसी देश-जाति की सभ्यता एवं संस्कृति अन्तर्निहित रहती है। ये लोक गीत सर्वसाधारण में लोकप्रिय होकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा से हस्तांतरित होते रहे हैं। शांति अवस्थी के अनुसार *''लोक गीतों में मानव हृदय की प्रकृत भावनाओं की तन्मयता की तीव्रतम अवस्था की गति है।''*[11] जबकि राहुल सांस्कृत्यायन के मत में *''लोक गीतों का बीज हमारे प्राचीन एवं पवित्र ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में पाया जाता है। प्राचीन साहित्य में जिन गाथाओं का उल्लेख स्थान-स्थान पर पाया जाता है वे ही लोक गीतों के पूर्व प्रतिनिधि हैं।''*[12]

लोकनाट्य

'लोकनाट्य' का सामान्य अर्थ जनसमूह की उस कृति से है, जब नाट्य-रूप में कथोपकथन के माध्यम से किसी कथावृत्त को प्रस्तुत किया जाए। लोक नाटक शास्त्रीयता से इतर लोक मानस की सहज अभिव्यक्ति है। इसकी विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में ही निहित है।

---

[11] शरीफ, मोहम्मद; मध्यप्रदेश का लोक संगीत; मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, मध्यप्रदेश; पृ. 196

[12] वही, पृ. 196

लोकनाट्य के सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र ने कहा है, *"लोकनाट्य सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोककथानकों, लोकविश्वासों और लोकतत्त्वों को समेटे चलता है और लोक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।"*[13] देखा जाए तो लोकनाट्य परम्परा बहुत प्राचीन और समृद्ध रही है। *"अत्यंत विकसित लोकनाटकों-रामलीला और रासलीला के साथ-साथ नितांत सरल प्रहसनमूलक नक़ल और भड़ैती है और इन दोनों के बीच गेय नाट्य-रूप, नौटंकी, स्वांग, ख्याल और माच हैं। प्रदर्शन की दृष्टि से भी लोकनाट्य में बड़ी विविधता है और उसके व्यवहार और रूढ़ियाँ बहुत रोचक हैं। उसमें कथानक की गरिमा और रोचकता है, काव्य का सौन्दर्य है, नृत्य और संगीत का बड़ा ही नाटकीय प्रौढ़ रूप है और सज्जा तथा वेशभूषा का भी आकर्षक सौन्दर्य है।"*[14] कुल मिलकर लोकनाट्य का सम्बन्ध लोकजीवन, उसकी रूचि और संवेदना से है।

उपरोक्त विवेचन के बाद हम कह सकते हैं कि 'लोकतत्व' मानव के आदिम विश्वासों और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति लोककथाओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, उत्सवों–पर्वों, आचार-विचार, गीतों, संस्कारों, विश्वासों आदि में मिलती है। इनमें गंभीर सामूहिक प्रभाव डालने की शक्ति विद्यमान है। अपनी व्यापकता में लोकसंस्कृति, परम्पराएँ, प्रथाएं, मिथक आदि सभी कुछ लोकतत्व हैं।

लोक जीवन में प्रचलित प्रायः सभी लोक रूपों, शैलियों आदि में स्थानीय संस्कृति के रंग छुपे हुए हैं। उसमें मानव की अनुभूतियाँ और जीवन का सौन्दर्य है। इसलिए ये शैलियाँ अत्यंत समृद्ध हैं और जब ये अपनी स्थानीयता से उठ कर मंच पर आती हैं तो एक अलग ही रोमांच,

---

[13] रंजन; आंगिक लोक साहित्य; शब्दसृष्टि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2009, पृ. अनुवादकीय से

[14] अवस्थी, सुरेश; हे सामाजिक : भारतीय रंग परम्परा पर संवाद; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 2002; पृ. 62

आनंद विकसित करती हैं। देखा जाए तो लोकनाट्य करना तथा हिंदी या अन्य भाषा के नाटकों में लोक शैलियों का प्रयोग करना दोनों ही अलग-अलग बातें हैं। क्योंकि लोकनाट्य में लगने वाली सूझबूझ, बिना नाट्यालेख के संवादों को गढ़ लेने की कला, पात्रों में लगातार संयोजन और संतुलन बनाये रखना, क्षेत्रीय नृत्य-गायन प्रकारों से परिचित होना जितना आवश्यक है, उतना ही उस लोक जीवन का अभिन्न अंग होना भी आवश्यक है। इन विशेषताओं को ग्रहण करने वाला कलाकार ही सही मायने में लोकनाट्य का कलाकार हो सकता है।

दूसरा पहलू लोकतत्त्वों या लोक शैली को ग्रहण करना है। किसी विशेष क्षेत्र की परम्परा, लोक जीवन एवं लोक संस्कृति का अध्ययन कर उनके सकारात्मक, विकासशील तथा प्रेरणादायक तत्त्वों को लेकर नाटक तथा रंगमंच पर उनका उपयोग किया जाता है। इसके लिए कलाकारों का उसी लोक जीवन का अभिन्न अंग होना अनिवार्य नहीं है। इन नाटकों में लोक तत्त्वों का प्रयोग सायास दिखाई देता है। फिर भी इसका असर नकारात्मक नहीं रहा। यही वजह है कि भारतीय लोक शैली के तत्त्वों की जनाधारित शक्ति को पहचान कर हिंदी रंगकर्म में पिछले कई दशकों से इनके आत्मसातकरण की प्रक्रिया लगातार नए-नए आयामों को रच रही है और इसी संदर्भ में सबसे बड़ा नाम हबीब तनवीर का है।

देखा जाए तो हबीब तनवीर ने जब अपना रंगमंचीय काम शुरू किया तब तक लोक सामयिक रंगमंचीय गतिविधियों की केंद्रीय चिंता में नहीं था। इस लिहाज से उन्हें लोक रूपों, लोक संस्कृति और प्रदर्शन में दिलचस्पी पैदा करने वाले पुरोधा के रूप में देखा जा सकता है। इसके बावजूद लोक संस्कृति को लेकर उनका नजरिया आज के समकालीनों से बिलकुल अलग है। हबीब तनवीर ने लोक तत्त्वों को लोकसंस्कृति से सम्बंधित मानते हुए कहा है कि *"लोक हमारे बीच प्रमाण के रूप में स्वीकृत होता है। इस लोक की संस्कृति का अपना समाजशास्त्र है। साथ ही*

संस्कृति को आप लोकतत्त्वों से अलग नहीं कर सकते। हमारा लोक साहित्य संस्कृति और विश्व दर्शन से गहरे जुड़ा हुआ है, परस्पर अनुस्यूत है। शब्दों से परे जाकर भाव और संवेदन की जो अदृश्य दुनिया है, लोक उसे थाती की तरह संभालकर रखता है और भविष्य की पीढ़ियों के लिए उपलब्ध कराता है।''[15]

हबीब तनवीर का विचार था कि हमें अवश्य ही महान नाटककारों की अच्छी शैलियों व तकनीक को जहाँ तक संभव हो ग्रहण करना चाहिए, परन्तु हमें इन तकनीकों की अंधी नकल नहीं करनी चाहिए। इसलिए आधुनिक रंगकर्म का सम्पूर्ण अध्ययन करने के पश्चात् ही उन्होंने अपने नाटक देशज रंग-पद्धतियों में प्रस्तुत किये। इस सम्बन्ध में सुविख्यात रंग-समीक्षक मुद्राराक्षस का कहना है, *''हबीब तनवीर ने न तो कभी हिंदी में नाटक होने की रुदाली की और न ही अपनी जमीन अपनी मिट्टी के रिश्ते को छोड़ा। हबीब ने हिंदी क्षेत्र में काम किया पर अपनी सांस्कृतिक विरासत को लेकर। इस तरफ उन्होंने जो कुछ भी किया वह रंग जगत को स्थायी रूप से समृद्ध करता रहा।''*[16]

हबीब तनवीर एक ऐसे लोक धर्मी नाटककार थे जिन्होंने संस्कृत एवं अंग्रेजी के नाटकों के निर्देशन में लोक परम्परा को नहीं छोड़ा। वे नाटकों के मंचन के समय लोक-शैली पर विशेष ध्यान रखते थे। जावेद मलिक के शब्दों में, *''तनवीर उन अग्रणी रंगकर्मियों में थे, जिन्होंने लोक प्रदर्शनकारी परम्पराओं में लोगों की रूचि को दोबारा जागृत किया और इन्हें एक विशिष्ट और प्रभावी दर्जा प्रदान किया। जब उन्होंने अपना कार्य आरम्भ किया तो भारत के रंग-व्यवहार में लोक न तो फैशन में था और न जूनून में। सबमें प्रेरणा जगाने वाला एक शब्द एक नारा बनकर रह गया था और बाद में धिक्कारा जाकर एक बेजानखाने में डाल दिया गया था। वर्ष 1958 के*

---

[15] अपूर्वानंद (सं.); आलोचना; अंक 36, जनवरी-मार्च 2010; पृ. 63

[16] मुद्राराक्षस; रंग भूमिकाएँ; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 2006; पृ. 142

आरम्भ में जब तनवीर इंग्लैण्ड में प्रशिक्षण प्राप्त कर और यूरोप की यात्रा कर भारत लौटे तो उन्होंने कई वर्षों तक लोक परम्पराओं में नाटक, कथा-वाचन, संगीत और नृत्य पर शोध और अध्ययन किया। वह लगातार छत्तीसगढ़ के अन्दरूनी क्षेत्रों तक घूम-घूम कर स्थानीय अदाकारों से मिलते रहे और उनके साथ समय बिताते रहे और अक्सर रात–रात भर चलने वाले प्रदर्शन भी देखते रहे।''[17]

रंगमंच का नया रंग मुहावरा लोकनाट्य धर्मी प्रदर्शन-शैली हबीब की पहचान है। इसका स्रोत नए सामाजिक और सांस्कृतिक स्पंदनों में है, वह मात्र एक भाषागत प्रवृति नहीं है। रंगमंच का यह नया रंग मुहावरा हिंदी में भारतेंदु युगीन रंगमंच की दृष्टि और उसका नवीकरण करके समकालीनता प्रदान करता है। कला तत्त्व में आधुनिकता के तत्त्वों और मूल्यों के आग्रही यह भूल जाते हैं कि अत्यंत समृद्ध और जीवन, लोक और मौखिक परम्परा हमारी कलाओं और संस्कृति का अभिन्न अंग और उसकी विशिष्टता है। परम्परा की ऊर्जा ने आधुनिक कला-धर्म को नया उन्मेष, नया मुहावरा दिया है। हबीब तनवीर ने उस नए मुहावरे को गढ़ा। ध्यान देने की बात यह है कि लोकधर्मी होते हुए भी उनका रंगकर्म आधुनिक रंगकर्म है। समाज की कुरीतियों, समस्याओं को उठाते रहे हैं। इस बीच उनके कुछ प्रदर्शनों का विरोध भी किया गया, लेकिन वे इससे घबराए नहीं।

सुरेश अवस्थी का मानना है कि *''रंगकर्मियों का रंगमंचीय भूगोल अपने क्षेत्र तक सीमित है और इतिहास उन्नीसवी शताब्दी से आरंभ होता है। दूसरे, यथार्थवादी परम्परा से भिन्न कुछ भी स्वीकार करने में हम डरते हैं। हम दो परम्परा में रंगकर्म कर रहे हैं- एक तो हमारी अपनी दो हजार वर्ष पुरानी परम्परा है और एक आयातित सवा सौ वर्ष की आधुनिक परम्परा है। उसकी बहुत ही कटु आलोचना इसी दृष्टि का फल है। इस आधुनिक परम्परा का आग्रह इतना बड़ा है, वह*

---

[17] खान,जाहिर; 'हबीब तनवीर'; अशोक वाजपेयी (सं.); नटरंग; अंक 86-87, जुलाई-दिसम्बर, 2010; पृ. 49

स्वीकार नहीं है, चाहे वह कितना भी कलात्मक एवं सशक्त हो। रंगकर्मियों का बहुत बड़ा वर्ग इसी मान्यता के कारण हबीब तनवीर के प्रदर्शनों की अवहेलना करते रहे।"[18]

लेकिन हबीब तनवीर इन अवहेलनाओं, चुनौतियों से कभी नहीं डरे और लगातार अपना काम करते रहे। अपने मुहावरे की तलाश में नए-नए प्रयोग कर रहे थे। लेकिन उन्होंने परम्परा को कभी खंडित नहीं किया। उन्होंने मुख्य रूप से छत्तीसगढ़ी लोक संस्कृति, गीत-संगीत, को अपने नाटकों से जोड़ा। उनके नाटकों में विशेष रूप से लोकनाट्य 'नाचा' के तत्त्वों का समावेश है। इसके अतिरिक्त पंथी नृत्य, सुआ गीत, करमा, ददरिया, बिहाव, सोहर, पंडवानी, बांसगीत, राउत नाच तथा विभिन्न लोककथाओं, लोकगीतों का समावेश हुआ है।

नाचा

'नाचा' नौटंकी, तमाशा, स्वांग की ही तरह विकसित छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य विधा है। यह नृत्य, नाटक और संगीत की त्रिवेणी बहाने वाला नाट्य रूप है जो ग्रामीण संस्कृति एवं परिवेश में पला-बढ़ा। 'नाचा' लोकनाट्य की परम्परा का वह रूप है जिसे हम सामाजिक रंगपरम्परा का प्रहसनात्मक रूप कह सकते हैं। यह जीवन के यथार्थ में मौजूद विसंगतियों और विरोधों की तीखी आलोचना का लोक रंगमंच है। बाल-विवाह, सर्वहारा वर्ग के शोषण के खिलाफ आवाज बुलंद करने तथा छुआछूत, विधवा विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों के प्रति सजग रूप से मंच पर आवाज उठाता है।

देखा जाए तो इसकी कोई निश्चित स्क्रिप्ट नहीं होती और न ही इसमें कलाकार पूर्वाभ्यास के साथ नाटक प्रस्तुत करते हैं। इसका कथानक तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार तय होता है जिसे इसके लोक अभिनेता अपने आशुकवित्त, हाजिरजवाबी, स्मृति और सहज

---

[18] अवस्थी, सुरेश; हे सामाजिक : भारतीय रंग परम्परा पर संवाद; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 2002; पृ. 119

अभिनय द्वारा मंच पर प्रस्तुत करते हैं। पहले पुरुष ही नारी का वेश बनाकर और कभी-कभी बीड़ी पीते हुए भी मंच पर प्रस्तुत होते थे। अब भी नारी वेशधारी पुरुष पात्रों की प्रचुरता है। लेकिन यायावरी वृत्ति से बचने के लिए भटकने वाली देवार जाति की स्त्रियाँ इसमें सम्मिलित होने लगी हैं। ये स्त्रियाँ गायन, नृत्य कला में पारंगत होती हैं। उनको देखकर अन्य जातियों की स्त्रियाँ भी अब इसमें दिखने लगी हैं।

'नाचा' के बारे में महावीर अग्रवाल लिखते हैं, *''छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य की परम्परा छत्तीसगढ़ के गाँवों में, यहाँ के जन-जन में बहुत गहरी रही है। जनरंजन और लोक शिक्षण का सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली स्वरूप लोकनाट्य में समाया हुआ है। लोकनाट्य का मूल आधार 'नाचा' है। हास्य और व्यंग्य की प्रबल धारा के साथ प्रचुर सांगीतिक वैभव नाचा की विशेषता है। नाचा को छत्तीसगढ़ की जनता रात-रात भर उतावली और भावली होकर देखती है।''*[19]

श्रीमती शांति यदु लिखती हैं, *''छत्तीसगढ़ी नाचा का यदि हम कोई पृथक स्वरूप या कोई लिपिबद्ध पाण्डुलिपि खोजना चाहें तो शायद हमें ये सब न मिल सके, क्योंकि नाचा परम्परागत लोकगीतों, लोकनृत्यों, लोकवाद्यों, लोककलाकारों एवं लोक अभिनयकारों का कुछ ऐसा गुम्फन है कि इसे सबसे अलग करके नहीं देखा जा सकता।... छत्तीसगढ़ी नाचा में पारंपरिक लोकगीतों के साथ-साथ कुछ ऐसी तुकबंदी भी जोड़ दी जाती हैं, जिसका सृजन आशुकवियों की तरह तात्कालिक होता है। लोकगीतों, लोक नृत्यों एवं लोकवाद्यों के साथ जब शारीरिक हलचलों, हावभावों एवं हास्यविनोद के व्यंग्यपरक, कथोपकथनों को जोड़ दिया जाता है तो इससे कुछ ऐसी मनोरंजक रसानुभूति होती है कि छत्तीसगढ़ी नाचा अर्थात् छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य 'नाचा' नृत्य के*

---

[19] अग्रवाल, महावीर; छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य: नाचा; श्री प्रकाशन, दुर्ग, छत्तीसगढ़; संस्करण 1999; पृ. भूमिका से

साथ जुड़ने के बाद भी अपना नाट्य– स्वरूप स्थापित कर देता है।''[20]

नाच-गाना और छोटे–छोटे प्रहसन, जिसे गम्मत कहा जाता है, नाचा के मंच पर रात भर प्रस्तुत किए जाते हैं। यह रात्रि 9-10 से शुरू होकर भोर होने तक चलता रहता है। नाचा की ग्रामीण लोगों के बीच इतनी गहरी पैठ है कि लोग 20-20 मील से चलकर देखने आते थे और सारी-सारी रात नाचा देखते। छत्तीसगढ़ में नाचा दो प्रकार से प्रचलित हैं- खड़े साज का नाचा, दूसरा बैठे साज का नाचा। खड़े साज में वादक वाद्यों को कमर में बांध कर मंच पर घूमते हुए बजाते-गाते हैं और संगत करते हैं। खड़े साज का मुख्य वाद्य चिकारा है। बैठे साज में वादक मंच के एक तरफ बैठते हैं और रात भर नाचा की संगत करते हैं। नाचा के बीच में वादक भी कभी-कभी अभिनय करते हैं और दोहरी भूमिका निभाते हैं। वर्तमान समय में नाचा प्रस्तुत करने वाली अनेक मण्डलियाँ हैं। लेकिन इनमें चल-चित्र के हाव-भाव और आधुनिकता का दबाव अधिक है।

आज नाचा छत्तीसगढ़ की पहचान बन गया है। क्योंकि नाचा के कलाकार और नाचा की विशिष्ट लोक शैली अपने अंचल की सीमाओं को लांघकर अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक मंचों तक पहुच गई है। हबीब तनवीर जैसे निर्देशक ने इसे अपने नाटकों में प्रयोग कर करके इसकी प्रासंगिकता बनाई है। देखा जाए तो इम्प्रोवाइजेशन नाचा की जान है। इसकी इसी शक्ति के कारण हबीब तनवीर ने भी अपने नाटकों में इस इम्प्रोवाइजेशन पद्धति के माध्यम से लोक कलाकारों द्वारा सफलता प्राप्त की। उन्होंने 'आगरा बाजार', 'मिट्टी की गाड़ी', 'चरनदास चोर', 'बहादुर कलारिन' आदि नाटकों में नाचा शैली का इस्तेमाल किया।

सन 1973 में हबीब तनवीर ने रायपुर में एक महीने की एक नाचा वर्कशॉप आयोजित की थी। इस वर्कशॉप में रायपुर, दिल्ली, कलकत्ता के शहरी कलाकारों के अलावा सौ से अधिक लोक कलाकारों ने भाग लिया था। *''इस कार्यशाला में तीन पारम्परिक हास्य नाटिकाएँ , 'गम्मद'*

[20] तिवारी, कपिल (सं.); चौमासा; अंक 40, पृ. 75

को लिया गया जो आपस में मिलकर एक पूरा नाटक बनी। कुछ दृश्यों को वहीं रचा गया जो इन तीन हास्य कथाओं को एक कहानी बनाने में मददगार हुए। कुछ गीतों को जोड़ा गया जो पहले कभी मंच पर नहीं आए थे। इस प्रयोग से जो नाटक बना उसका नाम हुआ 'गाँव का नांव ससुराल मोर नांव दामाद'।" [21] यह नाटक हबीब तनवीर की रंगयात्रा का एक अहम मोड़ बना। इस प्रयोग को छत्तीसगढ़ में ही नहीं बल्कि दिल्ली में भी सराहा गया। इस वर्कशॉप के बाद उनके लिए नाटकों के निर्माण और प्रस्तुति में तुरंत रचना का प्रयोग करना आसान हो गया। यही से इन्प्रोवाइजेशन पद्धति का इक्का उनके हाथ लगा जो उनके बाकि अन्य नाटकों की भी बुनियाद है।

देखा जाए तो हबीब तनवीर का रंगमंच अपनी शुद्धता में किसी एक शैली या परम्परा का रंगमंच नहीं है। जैसा कि हबीब तनवीर कहते थे वे किसी लोक शैली की खोज में नहीं लगे, बल्कि वे उन कलाकारों को खोजते रहे जो अपनी शैली मंच तक लाए। इसमें शक नहीं है उनके कलाकारों की पृष्ठभूमि नाचा की है। लेकिन उनके नाटकों की प्रस्तुतियां परम्परागत नाचा नहीं है। *"तनवीर के नाटकों में कलाकारों की पूरी टीम काम करती है। जिसमें कुछ नाचते-गाते हैं। इसके अलावा उनके नाटकों में एक रूपगठनात्मक-बुनावट होती है जो नाचा में नहीं होती। यह बुनावट खासी जटिल होती है। नाचा में गायन और नृत्य का स्वायत्त अस्तित्व होता है जबकि तनवीर के नाटकों में इनका प्रयोग न सजावट के लिए है, न दो नायिकाओं को जोड़ने के लिए। वे नाटक की बुनियाद में बुने आवश्यक तत्व होते हैं जो नाटक के विषय और रूप को निश्चित आकार देते हैं।"*[22] अतः हबीब को नाचा शैली के प्रयोग में काफी सफलता मिली। लेकिन यह शैली नाचा की कोई परम्परागत शैली नहीं थी।

हबीब तनवीर ने 1973 में नाचा वर्कशॉप से 'गाँव के नांव ससुराल मोर नांव दामाद'

---

[21] मलिक, जावेद; 'एक गाथा पुरुष का बनना'; प्रो. कमला प्रसाद (सं.); कलावार्ता; अंक 103, 2003; पृ. 144

[22] वही, पृ. 145

नाटक को तैयार किया था। इसमें छत्तीसगढ़ी विवाह गीत के साथ ददरिया, सोहर का प्रयोग पहली बार किया तो उन गीतों का महत्त्व अधिक बढ़ गया। हास्य के भीतर से निकलता व्यंग लोगों को खूब पसंद आया। इस प्रयोग से नाचा में भी खेतों के गाने मंच पर गाए जाने लगे। मतलब ठेठ लोकगीतों का चलन नाचा में बढ़ गया। हबीब तनवीर ने संस्कृत के कुछ नाटकों का प्रस्तुतिकरण नाचा शैली में ही किया है, जिसमें शूद्रक का नाटक 'मिट्टी की गाड़ी' अत्यंत सफल रहा है। उन्होंने ब्रेख्त का नाटक 'शाजापुर की शांति बाई' के नाम से और बैकेट का नाटक 'गोडोला अगौरत हौं' के नाम से भी नाचा-शैली में प्रस्तुत किए हैं।

देखा जाए तो नाचा के प्रचार-प्रसार में नया थियेटर से जुड़े गोविंदराम, फिदाबाई, माला बाई, भुलवाराम आदि लोककलाकारों ने विशेष भूमिका निभाई है। देश, विदेश में नाचा को प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन कलाकारों को है। कुछ नाचा कलाकार नाचा शैली से बाहर जाकर बड़े एवं समर्थ कलाकारों के रूप में अपनी प्रतिभा को प्रतिष्ठित कर सके हैं। इस कड़ी से सबसे सृजनात्मक और मूल्यवान काम हबीब तनवीर ने किया।

पंथी नृत्य

पंथी नृत्य छत्तीसगढ़ के सतनामी समाज की एक प्रमुख सामूहिक नृत्य परम्परा है। इस समाज में गुरु घासीदास का बड़ा सम्मान है तथा इसके गीतों में गुरु घासीदास के वाणी-वचनों, उनके जीवन चरित्र तथा उनके प्रति अपनी भावनाओं का गायन किया जाता है। इसमें आध्यात्मिक संदेश के साथ मानव जीवन की महत्ता होती है। कबीर, रैदास, दादू आदि संतों का वैराग्य-युक्त आध्यात्मिक सन्देश भी इसमें पाया जाता है। वास्तव में पंथी नृत्य धर्म, जाति, रंग-रूप आदि के आधार पर भेदभाव, आडम्बरों और मानवता के विरोधी विचारों को बढ़ाने वाली व्यवस्था पर हजारों वर्षों से शोषित लोगों और दलितों का करारा किन्तु सुमधुर प्रहार है।

इस समाज में सत्य को ईश्वर माना जाता है। सत्य का बड़ा महत्त्व है। इसलिए भी इसे सतनामी समाज कहा जाता है। इसमें सतनाम के प्रतीक स्तम्भ 'जैतखाम' पर सफेद ध्वज फहराया जाता है। पंथी नृत्य सामान्यतः माघ माह की पूर्णिमा (गुरु घासीदास की जयंती) या किसी त्यौहार पर जैतखंभ की स्थापना कर अनुयायियों द्वारा पारम्परिक तरीके से गीत-संगीत के साथ प्रस्तुत किया जाता है।

इसका मुख्य वाद्य यंत्र मंदार एवं झांझ है। नृत्य में एक मुख्य नर्तक होता है जो पहले गीत की कड़ी उठाता है जिसे समूह के अन्य नर्तक सहयोगी दोहराते हैं और नाचते हैं। शुरुआत में यह नृत्य धीमी गति के साथ शुरू होता है। इसमें गीत और मृदंग की लय के साथ गति बढती है। यह द्रुत गति का नृत्य है इसलिए इसमें मुख्य रूप से शारीरिक कौशल, चपलता, स्फूर्ति देखने को मिलती है। गीत के बोल और अंतरा के साथ ही नृत्य की मुद्राएँ बदलती जाती हैं। बीच-बीच में मानव मीनारों की रचना और हैरतअंगेज कारना में भी दिखाए जाते हैं। नृत्य का समापन तीव्र गति के साथ चरम पर होता है। वेशभूषा की बात करें तो ये नृतक सफेद धोती, कमरबंध तथा घुंघरू पहने, गले में जनेऊ पहने नृत्य करते हैं। इस नृत्य में जितनी सादगी है उतना ही आकर्षण और मनोरंजन भी है।

पंथी नृत्य की ख्याति के सन्दर्भ में देवदास बंजारे का नाम हमेशा याद रहेगा। उन्होंने इस नृत्य के लिए काफी संघर्ष किया था। एक खास बात यह कि हबीब तनवीर ने देवदास बंजारे को अपने प्रसिद्ध नाटक चरनदास चोर में ब्रेक दिया था। यही से उनकी कला ने देश, विदेशों के कई शहरों में अपना कीर्तिमान रचा और पंथी को अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक प्रसिद्ध किया। चूँकि 'चरनदास चोर' नाटक में एक चोर द्वारा सत्य के आग्रह का सन्देश दिया गया है। इसलिए हबीब तनवीर ने सतनामी समाज से इस नाटक को जोड़ते हुए पंथी नृत्य को नाटक का हिस्सा बना लिया। पूरे नाटक में यह नृत्य दो बार प्रस्तुत किया गया है। पहली बार नाटक की शुरुआत में जहाँ देवदास

बंजारे द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला एक पारम्परिक पंथी गीत प्रस्तुत किया गया है। यह गीत इस प्रकार है-

"सत्यनाम, सत्यनाम, सत्यनाम सार

गुरु महिमा अपार, अमृत धार बहाई दे,

हो जाई बेड़ा पार, सतगुरु ज्ञान बताई दे ...

गुरु महिमा अपार, अमृत धार बहाई दे।"[23]

दूसरी बार पंथी नृत्य तब आता है जब रानी मंत्री से चोर को हाथी पर बैठकर जुलुस के साथ लाने को कहती है। वहां भी बड़ा सुन्दर नृत्य प्रस्तुत किया गया है। नाटक के समापन से पूर्ण चोर की मृत्यु के बाद सतनामी समाज के प्रतीक जैतखाम की स्थापना भी जाती है। पंथी नृत्य एवं जैतखाम को चित्र क्रमांक 1, 2, 3 में देखा जा सकता है।

चित्र -1

('चरनदास चोर' की शुरुआत में सत्यनाम... गीत पर पंथी नृत्य करते कलाकार)

[23] तनवीर, हबीब; चरनदास चोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2008; पृष्ट- 19.

चित्र -2

('चरनदास चोर' में रानी द्वारा भेजे गए जुलुस में पंथी नृत्य करते कलाकार)

चित्र - 3

('चरनदास चोर' में चोर की मृत्यु के उपरांत जैतखाम की स्थापना करते कलाकार)

राउत नाच

छत्तीसगढ़ में राउत नाच राउत जाति (यादव, अहीर) द्वारा गाया जाने वाला सामूहिक नृत्य है। यह वीर रस से युक्त पुरुष प्रधान नृत्य है जिसमें लाठियों द्वारा युद्ध करते हुए दोहों को बोला जाता है। इसमें तुरंत दोहे बनाकर गाए जाते हैं जो इस शैली की ऊर्जा का स्रोत है। इन दोहों के अंतर्गत वीर, हास्य, व्यंग्य, श्रृंगार की प्रस्तुति होती है। राउत समाज कृष्ण को श्रृंगार कला का नायक मानता है तथा श्रृंगार में एक मर्यादा का ध्यान रखा जाता है। साथ ही इसमें यह सन्देश है कि जीवन में प्रेम कितना आवश्यक है।

प्रायः राउत समाज द्वारा वर्ष में एक बार मड़ई का आयोजन किया जाता है जिसमें बाजा-गाजा के साथ घर-घर जाकर राउत नृत्य एवं दोहों की प्रस्तुति दी जाती है। इसी तरह यह दीवाली, गोबर्धनपूजा के दिन भी प्रस्तुत किया जाता है। राउत नाच के अवसर पर नर्तक दल बढ़िया किस्म के रंग-बिरंगे वस्त्र आभूषण पहनते हैं जिसमें उनकी स्थानीय छाप होती है। आँखों में काजल लगाए, धोती पहने, कमर पर पट्टे बंधे हुए, सिर पर कसी पगड़ी के ऊपर सुशोभित मोर पंख की कलगी, पैरों में घुंघरू बंधे हुए, एक हाथ में सजी हुए लाठी, दूसरे में ढाल सँभालते हुए नृत्य करते हैं। इस नृत्य में ढोल, दफड़ा, टिमकी, झुनझुना, झाँझ, मादर, मंजीरा आदि विभिन्न वाद्यों का प्रयोग किया जाता है।

हबीब तनवीर ने इस लोक शैली का भी प्रयोग अपने नाटक 'चरनदास चोर' में प्रयोग किया। नाटक में चोर और एक गरीब सेतुवाले द्वारा मालगुजार के गोदाम से अनाज की चोरी करने के उद्देश्य से ये दोनों राउतों का वेश धारण कर राउत मण्डली से मिल जाते हैं और नृत्य प्रस्तुत करते-करते अनाज की चोरी कर लेते हैं। देखें चित्र क्रमांक 4, 5 में।

चित्र - 4
(चरन दास चोर तथा सेतुवाला अनाज चोरी करते हुए)

चित्र - 5
('चरनदास चोर' में मालगुजार के यहां राउत नाच करते कलाकार)

सुआ नृत्य

छत्तीसगढ़ में सुआ गीत महिलाओं द्वारा नृत्य करते हुए सामूहिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसमें छत्तीसगढ़ी नारी का जीवन दर्शन प्रमुखता से दिखता है जिसमें उनके श्रम, सुख-दुख, वियोग आदि की भावधारा समाहित है। परम्परा के अनुसार बांस की बनी टोकरी में धान

रखकर उस पर मिट्टी का बना, सजाया हुआ सुआ (तोता) रखा जाता है। कुछ महिलाएं जलता हुआ दीपक भी रखती है। लोक मान्यता है कि टोकरी में विराजित सुआ की यह जोड़ी शंकर और पार्वती के प्रतीक होते हैं। स्त्रियाँ इन्हीं जोड़ी को संबोधित करके सुआ गीत गाती हैं।

सुआ गीत छत्तीसगढ़ी लोक में इतना प्रिय है इसमें जाति बंधन नहीं है। हर वर्ग, हर जाति की महिलाओं ने इसे अपनाया है। महिलाएं कमर से झुककर गोल-गोल घूमते हुए इस गीत को गाती हैं। वर्ष में दीपावली के आसपास इसका आरंभ होता है जो अगहन माह (दिसम्बर- जनवरी) के अंत तक चलता है। महिलाओं, बालिकाओं की टोली खरीफ फसल के तैयार होने की ख़ुशी में घर-घर, गाँव-गाँव जाकर सुआ गीत, नृत्य प्रस्तुत करती हैं। इस दौरान दुकानदार, घर का मालिक अपनी इच्छानुसार नगद राशि या अनाज देता है। यह परम्परा का ही हिस्सा है।

इस गीत की एक खासियत यह है कि इसमें कोई वाद्ययंत्र उपयोग में नहीं लाया जाता। इसमें महिलाओं द्वारा गीत में तालियों से ताल दिया जाता है। कुछ जगह ताली से स्वर को तेज करने के लिए हाथों में लकड़ी का गुटका भी रख लिया जाता है।

सुआ-गीत-नृत्य का प्रयोग हबीब तनवीर ने अपने कई नाटकों में किया है। 'चरनदास चोर' में मंदिर में चोरी के दृश्य के बाद गीत गाते हुए इस नृत्य को कलाकार करते देखते हैं। वहीं 'आगरा बाज़ार' में मेले के एक दृश्य में महिलाएं मंच के दाएं ओर खड़े होकर गीत गाते हुए इस नृत्य को करते हुए नजर आती हैं। नाटक 'गाँव के नांव ससुराल मोर नाम दामाद' में भी सुआ नृत्य की प्रस्तुति की गई है। नाटक की शुरुआत में जब झंगलू, मंगलू तथा शांति मानती आपस में हास -परिहास करते है तब शांति और मानती नाचते हुए बीच-बीच में सुआ नृत्य भी करती है। फिर अगले ही दृश्य में महिलाओं का एक समूह मंच पर गाते हुए सुआ नृत्य करती है। सुआ नृत्य की इन विभिन्न नाटकों में प्रस्तुति को चित्र क्रमांक 6, 7 तथा 8 में देखें।

चित्र - 6
('चरनदास चोर' में सुआ नृत्य करते कलाकार)

चित्र - 7
('आगरा बाज़ार' में सुआ नृत्य करते कलाकार)

चित्र - 8
('गाँव के नाम ससुराल...' में सुआ नृत्य करते हुए मानती और शांति)

बांस गीत

छत्तीसगढ़ में बांस गीत राउत जाति की गायन की एक और प्रमुख लोक शैली है। इसलिए इस गीत के अधिकतर पात्र, नायक-नायिका रावत, अहीर ही होते हैं। गायन की शैली में गाय, भैस पर आधारित कथाओं की संख्य अधिक है। इसकी प्रमुख लोक कथाओं में शीत बसंत, भैंस सोन सागर, चंदा ग्वालिन की कहानी, अहिरा रूपईचंद, महाभारत के पात्र कर्ण और मोरध्वज का भी वर्णन है। बांस गीत में कहानी होने के कारण एक ही कहानी पूरी रात तक चलती है। कभी-कभी कई रातों तक चलती है। परम्परागत बांस गीत में एक गायक होता है। उसके साथ दो बांस बजने वाले होते हैं। गायक के साथ और दो व्यक्ति होते हैं, जिन्हें रागी और डेही कहते हैं।

गीत में सबसे पहले वादक बांस को बजाता है और जहाँ पर वह रुकता है वहीं से दूसरा वादक उस स्वर को आगे बढ़ाता है। इसके बाद ही गायक का स्वर सुनाई पड़ता है। वह कथा को गीत के माध्यम से आगे बढ़ाता जाता है। रागी गायक के स्वर में साथ देता है और डेही गायक और रागी को वाह-वाह, अच्छा, हो जैसे शब्दों से प्रोत्साहित करता रहता है। इसमें गाथा गायन के साथ मोटे बांस के लगभग एक मीटर लम्बे सजे धजे बांस नामक वाद्य का प्रयोग होता है। इसलिए इसे बांस गीत कहते हैं। छत्तीसगढ़ के हर उस गाँव में जहाँ यादव हैं, बांस गीत जरुर होता रहा है।

हबीब तनवीर ने अपने नाटक ‘कामदेव का अपना बसंत ऋतु का सपना’ में इस शैली का प्रयोग किया। नाटक का प्रारम्भ ही बांस गीत की धुन से होता है। वादक परम्परागत वेशभूषा में मंच पर बैठकर कुछ देर तक बांस बजाता है और फिर खड़े होकर बांस को बजाता हुआ नेपथ्य में चला जाता है। देखें चित्र क्रमांक 9 में।

चित्र - 9

('कामदेव का अपना बसंत ऋतु का सपना' में बांस बजाते हुए कलाकार)

हबीब तनवीर ने नाटकों का यदि गौर से अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि उनके नाटक में एक से ज्यादा लोक शैलियों का प्रयोग हुआ है। इस कड़ी में यह नाटक भी अपवाद नहीं हैं। इसमें केवल बांस गीत शैली का ही प्रयोग नहीं किया है, अपितु अन्य शैलियों का भी प्रयोग हुआ है। नाटक में पारम्परिक लोक नाटक यक्षगान और पारसी शैली के पर्दे की योजना को भी देखा जा सकता है। देखें चित्र क्रमांक 10 में।

चित्र 10

('कामदेव का अपना बसंत ऋतु का सपना' नाटक में पंक का पर्दे के माध्यम से प्रवेश)

गौर माडिया नृत्य

गौर माडिया नृत्य बस्तर जिले में गौर माडिया जनजाति द्वारा किया जाता है। यह नृत्य प्रायः विवाह आदि के अवसरों पर किया जाता है। इस नृत्य का नामकरण गौर भैंस के नाम पर हुआ है। पुरुष नर्तक रंगीन और विशिष्ट वेशभूषा धारण करते हैं, जिसमें भैस की दो सींग और उन पर मोर का एक लम्बा पंख-गुच्छ और पक्षी के पंख लगे होते हैं। इसके किनारे पर कौड़ी की सीप से बनी झालर झूलती हैं, जिससे उनका चेहरा थोड़ा-सा ढका रहता है। महिलाएं पंखों की जड़ी की हुई एक लोग चपटी टोपी पहनती है। इसमें नर्तकियां अपने साधारण सफ़ेद या लाल रंग के वस्त्र के साथ अनेक प्रकार के आभूषणों को धारण करती है। ये महिलाएं एक आन्तरिक गोला बनाकर ज़मीन पर लय के साथ डंडे बजाती, पैर पटकती, झूमती, घुमती हुई गोले में चक्कर लगाती रहती है। वहीं पुरुष नर्तक एक बड़ा बाहरी गोला बनाते हैं और तीव्र गति से अपने क़दम घुमाते और बदलते हुए जोर-जोर से ढोल पीटते हैं। बस्तर क्षेत्र के इस नृत्य शैली को भी हबीब तनवीर ने अपने नाटकों में प्रयोग किया है। पहला नाटक 'कामदेव का अपना बसंत ऋतु का सपना' और दूसरा नाटक 'राजरक्त' है। इस नृत्य शैली की झलक देखें चित्र क्रमांक 11,12 में।

चित्र - 11

('कामदेव का अपना बसंत ऋतु का सपना' में गौर नृत्य करे कलाकार)

चित्र- 12

('राजरक्त' नाटक में गौर नृत्य करते हुए लोक कलाकार)

पंडवानी

इसके विकास की एक लम्बी यात्रा है। यह प्रधान गौड़ गाथा गायकों से गुमंतु समुदाय 'देवार' के पास आया और उनके माध्यम से छत्तीसगढ़ी लोक में। कलात्मक दृष्टि से इसका बड़ा मूल्य है क्योंकि देश में किसी और जनजाति ने महाभारत का आख्यान स्थानीय प्रकृति और स्मृति के भीतर पूर्ण रचित नहीं किया है। 'अर्जुन का सारथी' और 'वेणी संहार' नाटक में पंडवानी का प्रयोग किया है।

चंदैनी

प्रेम-प्रधान गाथाओं के अंतर्गत 'लोरिक-चंदा' की गाथा, जिससे छत्तीसगढ़ में 'चंदैनी' के नाम से जाना जाता है, अधिक प्रचलित है। *"छत्तीसगढ़ी गद्य में इसकी कथा को सर्वप्रथम सन 1890 में श्री हीरालाल काव्योपाध्याय ने चंदा के कहानी के नाम से प्रकाशित किया था। वही बेरियर एल्विन ने सन 1946 में लोकगाथा के छत्तीसगढ़ी रूप को अंग्रेजी में अनुवाद करके अपने*

ग्रंथ फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़ में अद्भुत किया है।''[24] इसकी कथा एक विवाहित राजकुमारी चंदा और वीर नायक लोरिक के प्रेम संबंधों के कारण पारिवारिक विरोध, सामाजिक तिरस्कार, संघर्षों और चुनौतियों का सामना करते हुए बच निकालने की घटनाओं के इर्द-गिर्द घूमती है।

छत्तीसगढ़ में इसे प्रायः दो लोग मिलकर गाते हैं। एक प्रमुख गायक होता है और दूसरा उसके स्वर (राग) में स्वर मिलाने वाला रागी कहलाता है। इसका कार्य लोकगाथा में हुकृति देने वाले की तरह होता है। अंतर बस यह है कि इस लोकगाथा का रागी पूरी गाथा जानने के कारण एक ओर जहाँ प्रमुख गायक के आधे भाग 'अर्धाली' को उठाता है, वहीं हुकृति और उत्सुकता के द्वारा श्रोता वर्ग को भाव और कथा समझाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाता है।

लोक में रचे बसे कलाकार ही महान परम्पराओं को जीवन्त बनाये रखने में सक्षम है। चंदैनी के लोक कलाकारों ने आज भी इसे जीवित रखा है। इस क्षेत्र में दाऊ रामचंद्र देशमुख, चिंतादास बंजारे, खुमान साव का नाम सबसे पहले आता है। इन सभी लोगों की मेहनत और समर्पण ने चंदैनी को बनाये रखा। चंदैनी को आधार बनाकर उनको नाटक के रूप में खेलने वाले हबीब तनवीर साहब को भूलना संभव नहीं। उन्होंने इसे सोन-सागर नाम से प्रस्तुत किया। इस प्रस्तुति में चंदैनी के प्रसिद्ध गायक रमई की विशेष भूमिका रही। *''चंदा अउ लोरिक के है ये प्रेम कहानी/हमर देश के चंदैनी...''*[25] जैसे चंदैनी के गीतों द्वारा रमई कथा को आगे बढ़ाते हैं। वास्तव में यह प्रयोग किसी रंगकर्मी द्वारा इससे पहले नहीं देखा गया था। लोक से कथासूत्र उठाते हुए तनवीर ने इस गाथा में एक बार फिर प्राण फूंक दिए।

इसके अतिरिक्त हबीब तनवीर छत्तीसगढ़ की लोक रीतियों, अनुष्ठानों और परम्पराओं

---

[24] यादव, डॉ. सोमनाथ; ' छत्तीसगढ़ की लोकगाथा-लोरिक चंदा'; http://www.Suhai-bilasa.blogspot.com

[25] महावीर अग्रवाल , हबीब तनवीर का रंग- संसार, श्री प्रकशन, दुर्ग, छत्तीसगढ़; संस्करण 2006; पृ. 163

को भी अपनी रंगदृष्टि में पूरा स्थान देते हैं। 'छेर–छेरा' एक पर्व है। उस पर्व को वो ले आए थे। वे कोई भी चीज छत्तीसगढ़ की छोड़ना नहीं चाहते थे। वे कहते थे कि लोक में हो रहा है न। लोग कर रहे थे। वह लोक की जीवंत परम्परा है। उस रीति को देखों, उसे समझते थे वे। उनके पास में लोक की चीजें सजावटी नहीं थी। वे सारे छत्तीसगढ़ को जीते थे। छत्तीसगढ़ के लोक को जीते थे। उसे समझते थे। उसकी एक-एक रीति को उसके संगीत को, उसकी वेशभूषा को, उसकी भाषा को, उसकी कला को, उसके नृत्य को, उसकी गायन को, सब ले आये। एक जनपद जो है उसको अपनी सम्पूर्णता में संसार के सामने रख दिया तनवीर ने।

देखा जाए तो लोक मंचन की परम्परा तो प्राचीन काल से ही चली आ रही है तथा इसके विविध रूप स्वाभाविक परिवर्तन के साथ लोक जीवन में आज भी देखे जा सकते हैं। वे अपने नाटकों में लोक और शास्त्र दोनों का समन्वय करते हैं, एक तरह से परम्परा में रचनात्मक हस्तक्षेप। इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं कि *"मैंने विचार किया कि आप ऐसा कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं कर सकते जब तक आप अपनी जड़ों से न जुड़े और अपनी परम्पराओं की पुनर्व्याख्या न करें। साथ ही, परम्पराओं का उपयोग एक ऐसे माध्यम के रूप में करें जो आज के आधुनिक सन्दर्भों और समकालीन संदर्भों को अंतरित कर सके।"*[26]

हबीब तनवीर के नाटकों में लोक की स्थानीयता का बहुत विराट स्वरूप है। लेकिन उनके नाटक लोक नाटक नहीं है, वैज्ञानिक सोच के साथ परिमार्जित आधुनिक नाटक है। अपनी शैली के संदर्भ में स्वयं बताते हैं, *"...जब लोग मुझसे लोक शैली के बारे में बात करते हैं तो वहां एक गलतफहमी यह है कि गोया मैं सब कुछ छत्तीसगढ़ी नाचा शैली में कर रहा हूँ, महज़ इसीलिए कि मेरे कलाकार छत्तीसगढ़ी लोक शैली के हैं। मेरे नाटकों में छत्तीसगढ़ी भाषा अक्सर होती है। शैली*

[26] वाजपेयी, अशोक (स.); नटरंग; अंक 86-87; जुलाई-दिसंबर 2010; पृ. 51

को निश्चित करने में कई चीजें शामिल होती है। शैली का मतलब सिर्फ भाषा नहीं होती।''[27]

वास्तव में एक जनपदीय लोकनृत्य, गाथा और गीत-गायन अथवा लोक की नाट्य परम्पराओं के विभिन्न रूप एक स्थानिक संस्कृति की सदियों में निर्मित हुई परम्परा का एक भाग है। वे एक सामुदायिक जीवन के उत्सव का गान है जिसमें समुदाय के सभी लोग भागीदार होते हैं। जीवन के विभिन्न अवसरों और अनुष्ठानों को समारोहित करते है। इन स्थानिक लोकरंग की छाया से हमारा हिंदी रंगमंच भी समृद्ध हो रहा है। इस दिशा में रंगकर्मी हबीब तनवीर की विशेष भूमिका रही। उन्होंने छत्तीसगढ़ी लोक शैली के तत्त्वों और लोक कलाकारों के साथ एक नयारंग प्रयोग किया जो लोक (पारम्परिक) और आधुनिक तथा स्थानिक और वैश्विक सब एक साथ था। उन्होंने इस शैली के आधार पर भारत में आधुनिक रंगमंच का मुहावरा ही बदल दिया।

4.2 रंगोपकरण

'रंगोपकरण' शब्द रंग और उपकरण इन दो शब्दों के मेल से बना है। इसमें 'रंग' मंच या रंगमंच का द्योतक है तो 'उपकरण' उस मंच पर प्रयुक्त होने वाली वस्तुएँ हैं। अर्थात् रंगमच पर प्रयुक्त होने वाली सामग्री या वस्तुएँ ही रंगोपकरण है। ये रंगोपकरण निर्देशक और अभिनेता की सूक्ष्म संवेदना से अर्थवान होते हैं। भरतमुनि के अनुसार *''प्रयोग के लिए किसी भी स्थूल उपादान से बना शिल्प या रचना उपकरण हैं। नाटक की आवश्यकता और प्रकृति के अनुसार अनेक उपकरण हो सकते हैं जिनका प्रयोग निर्देशक और अभिनेता की कल्पना-शक्ति पर निर्भर करता है।''*[28]

रंगमंच पर प्रयुक्त ये विविध उपकरण या वस्तुएँ रंग-व्यापार में शामिल होकर अपनी

---

[27] वाजपेयी, अशोक (स.); नटरंग; अंक 86-87; जुलाई-दिसंबर 2010; पृ. 62

[28] रस्तोगी, गिरीश; रंगभाषा; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 1999; पृ. 173

सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता से नाटक में प्रभावी भूमिका निभाती हैं। सुविधा की दृष्टि से इन वस्तुओं, उपकरणों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। पहला- दृश्य-रचना के लिए अर्थात् मंच सामग्री और दूसरा- पात्र अपने अभिनय में प्रयुक्त करते हैं अर्थात् पात्र सामग्री। देखा जाए तो ये दोनों रंगभाषा का एक अभिन्न अंग है। गिरीश रस्तोगी पात्र से रंगोपकरण को जोड़कर देखती हैं। वे लिखती हैं, *''पात्रों से रंगोपकरणों का स्पर्श संबंध होता है। अगर अभिनय के समय पात्र इन्हें नहीं छूता है तो यह दृश्य-भाषा का रूप है और अगर छूता है तो ये रंगोपकरण हैं।''*[29] मतलब कि अभिनेता के प्रयोग में आए मंच के स्थूल उपकरण रंगोपकरण का हिस्सा हैं।

आन्तरिक रूप धारण तो अभिनेता की अपनी निजी शक्ति है ही, परन्तु बाह्य रूप-धारण आहार्य माध्यमों की सहायता से होता है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में रंगोपकरण को आहार्य अभिनय के अंतर्गत शामिल किया। आहार्य अभिनय- भले ही अभिनय ने अन्य प्रकारों (आंगिक, वाचिक, सात्विक) की तुलना में स्थूल और बाह्य है पर यह भी अभिनय का आधारभूत तत्त्व है। सामान्यतः आहार्य के चार प्रकार किए गए हैं- पुस्त, अलंकरण, अंग-रचना और सजीव। पुस्त में कई विधियों से दृश्यबंध तैयार किए जाते हैं। अलंकरण और अंगरचना में प्रसाधन, आभूषण आते हैं तथा प्राणियों की मंच पर गतिशीलता सजीव के अंतर्गत शामिल की गई है। सजीव में देव, दानव, पशु-पक्षी के मुखौटे और पर्वत, रथ, वृक्ष आदि के दृश्य तैयार किए जाते हैं।

भारतीय पारम्परिक (संस्कृत और लोक) नाटकों में मुखौटों का प्रयोग पाया जाता है। मुकुट- मुखौटे, रूप-सज्जा, वेश-भूषा आदि भावों एवं पात्रों के चित्रण में अभिनेता की मदद करते हैं। 'चूँकि हर वस्तु को उपकरण के रूप में मंच पर नहीं लाया जा सकता इसलिए उसे कभी लोकधर्मी पद्धति से करना होता है, कभी प्रतीकात्मक और सांकेतिक पद्धति से। मुकुट, मुखौटे

---

[29] रस्तोगी, गिरीश; रंगभाषा; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 1999; पृ. 174

आदि स्थूल उपकरण हैं पर वे अभिनेता की सृजन-क्षमता बढ़ाने के लिए ही है। *''भरत ने उपकरणों के प्रयोग में आस्वादन तत्त्व को ज्यादा महत्त्व दिया है जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलम, मृच्छकटिकम आदि में रथ, धनुष, गाड़ी, अश्व, विमान, पालकी आदि का आभास अभिनेता ही कराता है। कभी किसी प्रस्तुति में सारथी के हाथ में छोटी पट्टी भी दे दी जाती है। कभी लोकनाट्यों में रुमाल से ही बहुत सारे काम हो जाते हैं जैसे मालवा के माच में। भरत ने बहुत-सी समस्याओं का हल पात्रों की गतियों, हस्त और पाद की मुद्राओं से निकाला है। संस्कृत मंच स्थूल उपकरणों के स्थान पर इसी सौन्दर्यमूलक सांकेतिक शैली को प्रधानता देता है।''*[30]

देखा जाए तो निर्देशक रंगोपकरण का चयन अपनी शैली के अनुसार करता है। भले ही पारम्परिक शैली में किए गए नाटकों में मुकाभिन्य द्वारा उपकरण के अभाव की पूर्ति की जाती हो, परन्तु थोड़ी बहुत आवश्यक सामग्री वहाँ भी प्रोयोग में लायी जाती थी। अभिनेता और दर्शकों के बीच कल्पनाशीलता का एक अटूट रिश्ता था। दर्शक अपनी कल्पनाशक्ति का प्रयोग कर स्थान विशेष का बोध कर लेते हैं। लेकिन उपकरणों के आधिकाधिक प्रयोग तो जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति हेतु यथार्थवादी रंगमंच से शुरू हुए। इससे दृश्यबंध की एक व्यापक परिकल्पना सामने आई। मंच पर चित्रकला, वास्तुकला, मूर्तिकला के उपयोग की संभावनाएं और बढ़ गई।

इन स्थूल उपकरणों द्वारा निर्देशकों, अभिनेताओं ने मानवीय सम्बन्ध और परिवेश बनाने में सुविधा महसूस की। मंच पर वे सब चीजें ज्यों की त्यों दिखाई जाने लगी जिनका वास्तविक जीवन में प्रयोग होता है। जब यथार्थवादी नाटक और रंगमंच के हु-ब-हु पन और एकरसता के विरोध में कई नाट्य आन्दोलन उठ खड़े हुए तब दृश्यबंध के प्रति विचारों में गहरा परिवर्तन आया। दृश्यबंध सांकेतिक, व्यंजनापरक, काव्यात्मक होने लगा। लेकिन जो भी हो एक बात से

---

[30] रस्तोगी, गिरीश; रंगभाषा; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 1999; पृ. 173

मुकर नहीं सकते कि यथार्थवादी शैली हमेशा रंगमंच के केंद्र में रही और आज भी है।

आहार्य अभिनय में अलंकरण और अंगरचना का भी काफी महत्त्व है। इन्हें सामान्य शब्दों में वेशभूषा और रूप-सज्जा भी कहा जाता है। वेशभूषा और रूपसज्जा से अभिनेता अपने आप को चरित्र के निकट महसूस करने लगता है। साथ ही दर्शकों के मन में भी चरित्र के संबंध में एक हल्का खाका या प्रारूप बन जाता है। देखा जाए तो ये चरित्र को विश्वसनीय बनाने में मदद करते हैं। एक राजा, एक गरीब, एक शहरी, एक ग्रामीण, ब्रह्मचारी, देव, दासी आदि पात्रों के बीच पहला फर्क वेशभूषा और रूप-सज्जा द्वारा रेखांकित हो जाता है। जैसे फटे-चीथड़े वस्त्र, हाथ में झोला और कटोरा देखकर समझ जाते हैं कि यह पात्र भिखारी है। वेशभूषा पात्र के बारे बहुत कुछ कहती है और यह कहना ही रंगमंच पर उन्हें आहार्य भाषा का अंग बना देती है। इसलिए पारम्परिक रंगमंच के साथ-साथ समकालीन रंगमंच पर भी वेशभूषा, रूप-सज्जा का काफी महत्त्व होता है। हाँ यह जरुर है कि विभिन्न शैलियों और रंगभाषाओं के नाटकों में वेशभूषा आकल्पन पर्याप्त भिन्न होता है।

इस संदर्भ में रंग समीक्षक आशीष त्रिपाठी लिखते हैं, *"वेशभूषा के हर हिस्से को भी नाटक के अर्थ और पात्रों के चरित्र को उभारने में मददगार होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब वेशभूषा पात्र के स्वभाव, वर्ग, आयु, समाज में स्थान, उसकी व्यक्तिगत पसंन्द, उसकी मनोदशा और उसके चरित्र को ध्यान में रखकर परिकल्पित की गई हो और उस चरित्र की कुछ खास विशेषताओं को उभारती हो।"*[31] साथ ही पात्रों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति को भी उसे व्यक्त करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर हम हबीब तनवीर के नाटक 'चरनदास चोर' को देख सकते हैं। इसमें वेशभूषा के द्वारा पात्रों के वर्ग, स्वभाव, सामाजिक हेसियत को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। नाटक के पात्रों जैसे चोर, पुलिसवाला, साधू, मालगुजार, सेतुवाला, पंडित, मंत्री, रानी, राज पुरोहित आदि की वेशभूषाओं द्वारा उनकी चारित्रिक भिन्नताओं को स्पष्ट किया जा

[31] त्रिपाठी, आशीष; समकालीन हिंदी रंगमंच और रंगभाषा; शिल्पायन, दिल्ली; संस्करण 2007; पृ. 57

सकता है। 'चरनदास चोर' नाटक के पात्रों की वेशभूषाओं को चित्र क्रमांक 13, 14, 15, 16 तथा 17, 18, 19, 20 में देखें।

चित्र – 13
(पुलिस तथा चोर की वेशभूषा)

चित्र – 14
(गुरु की वेशभूषा)

चित्र -15
(गरीब सेतुवाले की वेशभूषा)

चित्र - 16
(मालगुजार की वेशभूषा)

चित्र - 17
(पंडित की वेशभूषा)

चित्र - 18
(मंत्री तथा मुनीम की वेशभूषा)

चित्र - 19
(राज पुरोहित की वेशभूषा)

चित्र - 20
(रानी की वेशभूषा)

इसी तरह उनके अन्य नाटकों के पात्र भी अपनी खास वेशभूषा और रूपसज्जा से पहचाने जाते हैं। हबीब तनवीर ने यथार्थवादी और लोक दोनों ही शैलियों में नाटक प्रस्तुत किये हैं। अतः उनके यहां उसी तरह के वेशभूषा और दृश्यांकन का प्रयोग हुआ है। उदाहरण के तौर पर 'आगरा बाज़ार' को लिया जा सकता है। नाटक यथार्थवादी और लोक दोनों शैलियों का मिश्रण है। मंच सज्जा या दृश्यांकन में वे बिल्कुल यथार्थवादी दिखते हैं, लेकिन नाटक की प्रस्तुति में लोक शैली अपनाते हैं। 'आगरा बाज़ार' की यथार्थवादी मंच सज्जा को देखिए चित्र क्रमांक 21, 22 में।

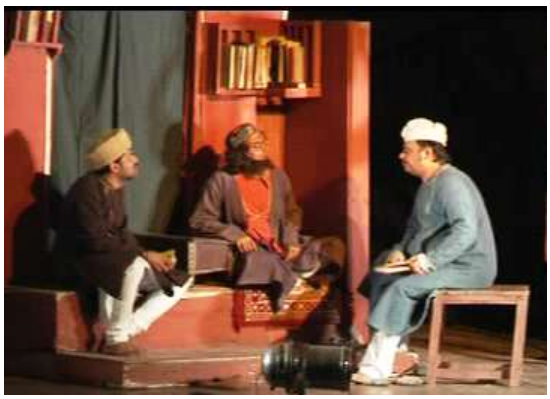

चित्र - 21
(किताब वाले की दुकान का दृश्य)

चित्र -22
(पतंग वाले की दुकान का दृश्य)

देखा जाए तो हबीब तनवीर का रंगकर्म लोक-चेतना पर आधारित हैं। उन्होंने लोक कथाओं को, संस्कृत नाटकों को लोक शैली में प्रस्तुत किया। अतः इन नाटकों की रंगसज्जा, रंगोपकरण का साधन भी लोकरंग से जुड़ा हुआ है। उन्होंने पात्रों की सज्जा में मुखौटों का प्रयोग किया है। 'मिट्टी की गाड़ी' के संदर्भ में अमितेश कुमार का कहना है, *"मिट्टी की गाड़ी का मंचन करते हुए हबीब साहब ने उसके आलेख में कुछ परिवर्तन किया। कविता को हटा दिया। नाटक के अन्दर के गोल मूवमेंट को पहचानते हुए गोल चबूतरे का सेट बनाया। वेशभूषा को स्टाइललाइज्ड बनाया। मुखौटों पर इस्तेमाल किया, स्पेश मेकअप ने इन सबको गहरा दिया है।"*[32] 'मिट्टी की गाड़ी' का मंच पारम्परिक नाटकों के ढांचे पर निर्मित किया गया जहाँ कहानी को बिना किसी बाधा के कह जाने के लिए मंच से सभी उपकरण हटा दिए और केवल एक गोल चबूतरा बचा। देखें चित्र क्रमांक 23 में।

चित्र - 23
('मिट्टी की गाड़ी' नाटक की मंच सज्जा)

[32] कुमार, अमितेश कुमार; 'रंग शैली'; अशोक वाजपेयी (स.); नटरंग; अंक 86-87; जुलाई-दिसम्बर, 2010; पृ. 63

लोक मंच पर अक्सर मंच सज्जा बहुत सहज, सादगी भरी हुई होती है। मंच के चारों ओर बांस के खम्बे लगे होते हैं और उन पर बल्ब लगा कर प्रकाश व्यवस्था कर दी जाती है। इसी तरह हबीब तनवीर भी अपने नाटकों में रंगसज्जा सादगी भरी रखते थे। 'आगरा बाज़ार' और 'जिस लाहौर ...' आदि नाटकों की रंग सज्जा में यथार्थवादी ढांचा अपनाया। बाकी उनके अधिकांश नाटकों में पेड़ लगाकर किसी में मंच को पूरा खाली रखकर दृश्यबंध तैयार कर लिया जाता है। 'चरनदास चोर' में एक प्लेटफोर्म और उसके किनारे में लगे पेड़ से दृश्यबंध तैयार हो जाता है। 'चरनदास चोर' में पेड़ पर पड़ने वाले विभिन्न कोणों के प्रकाश से बड़ा ही प्रभावी दृश्य उपस्थित होता है। देखें चित्र क्रमांक 24 में।

चित्र - 24
('चरनदास चोर' नाटक की मंच सज्जा)

इस प्रकार हम देखते हैं कि हबीब तनवीर के नाटकों में रंगोपकरण का प्रयोग बहुत सहजता से, सादगी से और बड़ी सूझ-बूझ के साथ हुआ है। वेशभूषा में छत्तीसगढ़ी परिधान को महत्त्व दिया है। उन्होंने इस बात का हमेशा ध्यान रखा कि उनकी शिक्षित नागर चेतना का लेखक उनके ग्रामीण अभिनेताओं, कलाकारों पर हावी न पड़े। *"यह साझा कर्म है जहाँ दोनों एक-दूसरे*

को सम्पन्न बनाती है। इसका बढ़िया उदाहरण है जिस तरह से तनवीर अपनी कविताओं को लोकधुनों और संगीत से जोड़ देते हैं। इसमें उनकी नगर चेतना की तर्कशक्ति और कल्पना भी बची रहती है, उनका सामाजिक-आर्थिक तर्क भी बचता है, लेकिन लोक परम्परा, संगीत को नुकसान नहीं पहुँचता, दूसरा उदाहरण है उनका अपने अभिनेताओं को बिलकुल सामने लाना। इसमें वे लाइट, सेट आदि के लोभ से बचते हैं। इस तरह हबीब तनवीर के नाटक परम्परा और आधुनिकता का एक बढ़िया यौगिक बनाते हैं। इसमें एक तरफ लोक परम्पराओं की सृजनात्मक ऊर्जा है तो दूसरी तरफ आधुनिक आलोचनात्मक चेतना है।''[33]

4.3 रंग संगीत

नाटक और रंगमंच में संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गिरीश रस्तोगी के अनुसार, "नाटक में संगीत की हैसियत महज एक अलंकार वस्तु की नहीं है, वह समग्र रंगनुभाव के एक प्रभावी घटक के रूप में प्रतिष्ठित है।"[34] इसी प्रकार जयदेव तनेजा जी का भी विचार है कि "नाटक के कथ्य को सम्पूर्ण और प्रभावशाली रूप में श्रोताओं तक पहुँचाने में संगीत और ध्वनि-प्रभावों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।"[35]

इसलिए हम देखते हैं कि संगीत प्रधान नाटक अक्सर चर्चित हो जाते हैं। मगर संगीत प्रधान नाटकों का रंगमंच पर प्रदर्शन आसान नहीं होता। ऐसे में पूरा भार ऐसे में संगीत निर्देशक के ऊपर आ जाता है। ब.व. कारंत का कथन है, *"निर्देशक न तो संगीत केवल अलंकरण के रूप में प्रयोग करता है, न मात्र भराव के लिए, नहीं भावोद्दीपन के लिए, न कथा के विकास के लिए और न कार्य व्यापार के लिए, बल्कि इन सबसे भिन्न रंगमंचीय संगीत रचना– रूढ़िगत स्वर रचना नहीं*

---

[33] मलिक, जावेद; हबीब तनवीर: 'एक गाथा पुरुष का बनना'; कमला प्रसाद; कलावार्ता; अंक 103, पृ. 148

[34] रस्तोगी, गिरीश, रंगभाषा, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 1999; पृ. 177

[35] तनेजा, जयदेव; आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2010; पृ. 13

है, बल्कि एक ध्वनि संयोजन है। पात्रों के संवाद भी इसी ध्वनि संयोजन का अंश बन जाते हैं। इस दृष्टि से यहां कोई स्वर बेसुरा नहीं है, कोई ताल बेताल नहीं है, कोई ध्वनि अशून्य नहीं है। यंत्रों की मर-मर, हवा सॉय सॉय, झरने की कल-कल ये सब संगीत की भांति हैं।''[36]

लोक नाट्यों की सबसे बड़ी धरोहर उनका संगीत एवं नृत्य पक्ष है। यह संवादों की संचरण शक्ति को बढ़ाता है तथा शब्दों की व्यंजनाओं में चार चाँद लगाता है। वह ऐसा पक्ष है जो अभिव्यंजित पदों को श्रोताओं के स्मृति-पटल पर लम्बे समय तक स्थापित कर देता है। दूसरा यह कि बहुधा लोकनाट्यों में उसके अभिनेता और दर्शकों को शब्द ज्ञान नहीं होता। उनको कथ्य को लिख लेने की सामर्थ्य नहीं होता। अतः हर पद उन्हे कंठस्थ होना आवश्यक हो जाता है। इसलिए भी लोकनाट्यों में गेय संवादों की प्रधानता रहती है। दर्शक समुदाय भी गीतों का आनंद लेने के लिए ही दूर-दूर से उमड़ पड़ता है। एक ही बात को कई प्रकार से कहने की परिपाटी भी इन लोक नाटकों में परिलक्षित होती है। अतः इन पुनरावृति की नीरसता को दूर करने के लिए गीतों की धुनों में विभिन्नता के दर्शन होते थे।

हबीब तनवीर ने अपने नाटकों में छत्तीसगढ़ के लोक संगीत का, संस्कृति का जो प्रयोग किया, वह लोक परम्परा के लोक कलाकारों के कंठ, गायन के अंदाज, नृत्य, ताल, लय के कारण एक दूसरा ही रंग लिए था। फ़िदा बाई एक अच्छी लोक गायिका थी। *''एक गायिका तो अद्भुत थी। हवाओं को चीरता पर बेहद मधुर स्वर। वे धुनें, वो नृत्य अपनी लोक-परम्परा के कारण जीवंत थी जिसकी नाटकीय संभावनाएं हबीब तनवीर ने भरपूर रचनात्मकता के साथ खोजी थी।''*[37]

---

[36] शुक्ल, डॉ. धीरेन्द्र (स.); हिंदी नाटक और रंगमंच; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, राजस्थान; संस्करण 2009; पृ. 218

[37] रस्तोगी, गिरीश; रंगभाषा; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 1999; पृ. 177

हबीब तनवीर के संदर्भ में डॉ. कपिल तिवारी कहते हैं, *''वे शीर्षस्थ निर्देशक ही नहीं, रंग-लेखक और संगीतज्ञ भी है। उन्होंने समग्रता की रंगदृष्टि का विस्तार करते हुए नई रंग भाषा का आविष्कार किया है। उनके रंग-दर्शन और दृष्टि को, रंगान्दोलन को उनकी मंचीय यात्रा का हमसफर बनकर ही जाना और समझा जा सकता है।''*[38]

ब.ब. कारंत ने कहा, *''रस संगीत अलग नहीं है। यह भाषा का हिस्सा है, संवाद का हिस्सा है। हबीब बहुत सिद्धहस्त है। इनके नाटकों में कविता को, शायरी को, संगीत को अलग-अलग करना कठिन है। नाटक में कभी वादी, तो कभी कभी संवाद हो जाता है। नाटक का औचित्य सिद्ध होना उनके नाटकों की बहुत बड़ी सफलता है। ऐसे नाटकों को एक व्यक्ति प्रस्तुत करे, यह भारत में ही संभव है। उनके नाटकों में शायरी के पीछे, स्वरों के पीछे, अर्थ छिपा रहता था। रस संगीत में कोई गुरु परम्परा नहीं है, फिर भी मैं इनसे प्रेरित हुआ।...हबीब तनवीर दार्शनिक और रंगसंगीतज्ञ के बहुत बड़े साधक ही नहीं संत भी हैं।''*[39]

हबीब तनवीर ने अपने नाटकों के मंचन में छत्तीसगढ़ी लोक गीत-संगीत एवं लोक कलाकारों का प्रभाव जमाया है। हबीब ने महावीर अग्रवाल से एक बातचीत के दौरान स्पष्ट कहा है, *''छत्तीसगढ़ में लोक धुनों का जो खजाना है, उसकी दुनिया में कोई मिशाल नहीं है। छत्तीसगढ़ ही नहीं, किसी भी क्षेत्र के लोक गीत और लोक संगीत हो, उसका जो जादू है, वह कलाकारों के सिर पर चढ़कर बोलता है। यह जरुर है कि कलाकार को अपने फन में माहिर होना चाहिए। छत्तीसगढ़ के खेत-खलियान में, बोली-बानी में, रहन-सहन में गीत-संगीत बसा है। अपनी माटी के लोक रंग से महकती हुई छत्तीसगढ़ी की अपनी बेहद समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है पर विरासत मेरे*

---

[38] अग्रवाल, महावीर, हबीब तनवीर का रंग संसार, श्री प्रकाशन, दुर्ग, छत्तीसगढ़; संस्करण 2006; पृ. 208

[39] वही, पृ. 216-217

संजीवनी की तरह है।''[40]

छत्तीसगढ़ी सगीत की धुनों के अतिरिक्त अन्य धुनों के प्रयोग के सम्बन्ध में हबीब तनवीर का कहना है, *''मैंने अपने नाटकों में गुजरती, हरियाणवी, उत्तरप्रदेश के बिदेशिया की, बुंदेलखंड की धुनों का इस्तेमाल किया है।''*[41] इसके अतिरिक्त उनके नाटकों की धुनों में *''विदेशिया है, पहाड़ी धुनें हैं हिमाचल की, बंगाली धुनें हैं तो लोगों को देखते वक्त यह सब महसूस नहीं होता है।''*[42]

हबीब तनवीर अपने नाटकों में लोक गीतों, धुनों, संगीत और नृत्य का ऐसा तालमेल रखते थे कि दर्शकों को अपनी मिट्टी से जुड़े होने का अहसास होता था। हबीब तनवीर के नाटकों में संगीत पर भास्कर चंद्राकर के विचार हैं कि *''हबीब तनवीर के नाटक गौर से देखें तो लगता है वो आम जनता से, दर्शकों से संबोधित है। आसान भाषा में दिल को छू लेने वाली बेहद सरल धुनें सीधे दिल पर असर करती हैं। उनका संगीत मनोरंजन ही नहीं करता, बल्कि उसका अपना एक अलग ही महत्त्व है। वो अपने नाटकों में संगीत के इस्तेमाल में साफ और स्पष्ट भावनाएं रखते हैं।''*[43]

हबीब तनवीर के संगीत में दर्शक बंध जाते थे। आज के आपाधापी के दौर में हबीब के संगीत में जो एक ठहराव, एक सुकून था, उससे दर्शकों को आत्मीय शांति और कुछ सीखने की प्रेरणा मिलती थी। *''हबीब तनवीर अपने संगीतके जरिए संत सूफी बनने की राह पर है। एक अफसोस जनक हकीकत ये है कि हबीब तनवीर की ड्रामा निगारी पर अब तक खास ध्यान नहीं*

---

40 अग्रवाल, महावीर; 'हजार कसौटियों से गुजरता है नाटक'; अशोक वाजपेयी; नटरंग; अंक 86-87; पृ. 117

41 शुक्ल, प्रयाग; रंग प्रसंग, जुलाई-सितम्बर 2009, पृ. 9

42 अलखनंदा; 'अपने दिल की सच्ची बात लिखिये' (बातचीत); प्रो. कमला प्रसाद (सं.); कलावार्ता; अंक 103, 2003; पृ. 62

43 नियाजी, इकबाल; 'आधी सदी के कैनवास पर हबीब तनवीर के रंग'; कमला प्रसाद; कलावार्ता; अंक 103, 2003; पृ. 127

दिया गया है। 'आगरा बाज़ार' से लेकर 'एक औरत हिपेशिया थी' तक हबीब तनवीर ने लगभग दर्जन भर अर्थ पूर्ण नाटक लिखे हैं लेकिन उन्हें बतौर ड्रामानिगार वो प्रसिद्धि नहीं मिली जिसके वो हकदार थे। मुमकिन है कि इसकी वजह ये भी हो कि उनके ड्रामे पुस्तक की शक्ल में नहीं है सिवाय आगरा बाजार, शतरंज के मोहरे, चरनदास चोर, देख रहे हैं नैन। उनके दीगर नाटकों की स्क्रिप्ट उपलब्ध नहीं है, वरना ड्रामागार की हैसियत से भी और नाटक के संगीत पर भी आलोचकों ने कम ध्यान दिया है।''[44]

हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ी धुनों का प्रयोग किया। इस धुनों का इस्तेमाल करके हबीब तनवीर को लगा कि 'मिट्टी की गाड़ी' के युग को आज के युग से जोड़ रहा हूँ, नाटक का संगीत जोड़ने वाला पुल का काम कर रहा था। यह सब करने में हबीब तनवीर का मकसद था कि दर्शक एक साथ ही नाटक में अपने आपको पहचान भी सकें और अपने नाटक से अलग रखकर नाटक में जो कुछ हो रहा है, उसके बारे में सोच भी सकें। उसके बाद हबीब तनवीर ने बाद की हर प्रस्तुति में इस बात पर ज़ोर दिया। इसलिए वह ऐसे अभिनेताओं का होना आवश्यक मानते थे जो गायन, नृत्य, अभिनय सब में गुणी हो और जो स्वयं सूक्ष्म, कल्पनाशील हों, नए-नए दृश्यों की कल्पना स्वयं कर सके तथा नाटकों में समूह नृत्य की कल्पना भी स्वयं कर सके। *''उनके नाटकों में समूह, नृत्य-रचना और उसकी नाटकीय व्यंजनाएं बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें नृत्य पूरी प्रस्तुति का बहुत अन्तरंग हिस्सा था।''*[45]

हबीब तनवीर के चरनदास चोर, बहादुर कलारिन, हिरमा की अमर कहानी, देख रहे हैं नैन, जैसे प्रायः सभी नाटकों में संगीत की प्रभावशाली भूमिका आज इतिहास का एक तथ्य है। लोक संगीत लोक नाटकों जैसे संगीत की इसमें बड़ी भूमिका थी। *''आगरा बाज़ार' में धुनें यूं*

---

[44] नियाजी, इकबाल; 'आधी सदी के कैनवास पर हबीब तनवीर के रंग'; कमला प्रसाद; कलावार्ता; अंक 103, 2003; पृ. 127

[45] रस्तोगी, गिरीश; रंगभाषा; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 1999; पृ. 94

ज्यादातर नई थीं पर पहले भटिंडा और बाद में छत्तीसगढ़ी लोक गायकों का गला पाकर उन्हें एक अलग ही अंदाज मिला। 'मिट्टी की गाड़ी' का संगीत छत्तीसगढ़ी लोक संगीत से प्रेरित था। 'गाँव का नाम ससुराल' में उन्होंने पहली बार पूरा संगीत छत्तीसगढ़ी लोक संगीत से चुना लेकिन आगे भी लोकसंगीत और नई धुनों का मित्र संगीत ही ज्यादातर उन्होंने प्रयुक्त किया। संगीत की भाषा के प्रति उनका गहरा लगाव और उस पर अभूतपूर्व विश्वास इस बात से देखा जा सकता है कि मैक्सिम गोर्की के 'दुश्मन', मोहन राकेश के 'बहुत बड़ा सवाल' और असगर वजाहत के 'जिस लाहौर नहीं देख्या'' जैसे पूरी तरफ यथार्थवादी पृष्ठभूमि के नाटकों में भी उन्होंने बड़ी संख्या में गीत-संगीत का प्रयोग किया। 'दुश्मन' का संगीत अक्तूबर क्रांति के मार्च-संगीत और बंग्ला के रवीन्द्र व नजरुल संगीत से लिया गया। 'जिस लाहौर नहीं...' में हबीब तनवीर ने फिराक गोरखपुरी, अमृता प्रीतम, राही मासूम रजा और नासिर काजमी के गीतों को नई धुनों में ढाला। एक पंजाबी गीत अवश्य परम्परागत हीर की धुन पर था। 'बहुत बड़ा सवाल' की (रीवा में) एक प्रस्तुति में उन्होंने दो जगहों पर चपरासियों राम भरोसे, श्याम भरोसे नामक चरित्रों से एक गीत गवाया जो परम्परागत वसदेवा गायकी पर आधारित था।''[46]

आधुनिक नाटककारों ने लोक गीत-संगीत को मंच से दूर रखा है और उसे लोकनाट्यों के लिए अनिवार्य मानकर यथार्थवादी रचनाएँ दीं। लेकिन हबीब तनवीर के अपने नाटकों में संगीत-पक्ष लोकप्रियता का एक बड़ा कारण रहा है। नाटक के गीतों को स्वयं उन्होंने संगीतबद्ध किया। *''रंग संगीत एक शक्ति थीजो रंग के कथ्य को आगे ले जाता है। जहाँ अभिनेता चुकने लगता हो, उसकी सीमा आ जाती थी, वहां भी स्वरों का नाम था उनके गीत। इस अर्थ में रंग की सीमा का विस्तार करते थे। उनका उपयोग करते थे। तनवीर की जो सारी रंगचेतना संगीत में दिखाई देती थी वो मूलतः छत्तीसगढ़ी लोक परम्परा का संगीत था। उनकी चेतना का केंद्र छत्तीसगढ़ी लोक संगीत*

[46] त्रिपाठी, आशीष; समकालीन हिंदी रंगमंच और रंगभाषा; शिल्पायन, दिल्ली; संस्करण 2007; पृ. 271

है। करवा, ददरिया, विहाव इन लोक धुनों का प्रयोग करते थे वे। पंडवानी, पंथी, नाचा इन सब का। सुआ गीत इसका भी इस्तेमाल किया।''[47]

हबीब ने अपने 'आगरा बाज़ार' में बाजार भाषा का प्रयोग किया था तथा उसमें संगीत के कारण ही सफलता हाथ लगी। 'आगरा बाज़ार' की प्रस्तुति में हबीब तनवीर ने कई प्रयोग किये। जैसे ककड़ी, तरबूज और लड्डू के साथ पतंग, बर्तन और होली की नज्मों को एक सूत्र में बांधने की कोशिश की। *''फरहाद की निगाहे, शीरी की हँसलियां, मजनू की सर्द आहे, लैला की उंगलियाँ हैं। सब की धुनें अलग-अलग हैं और बजाने वाले भी ग्रामीण थे और आज भी ग्रामीण ही बजाते हैं। छत्तीसगढ़ी लोक गीत भी बीच में डाला गया। गाने की धुनें वही थीं, जो बचपन से बाजारों में फकीरों से सुनता रहा। इस तरह एक म्यूजिकल पुल बनता चला गया क्योंकि मैं इस बात का कायल था कि नये हिन्दुस्तानी राष्ट्रीय रंगमंच का संगीतमय होना आवश्यक है।''*[48]

हबीब तनवीर जी मुशायरों में जो धुनें बनाया करते थे उसका प्रयोग उन्होंने लाला शोहरत राय में किया। हबीब ने अपने एक साक्षात्कार में कहा था, *''लाला शोहरत राय में सारी धुनें जो हैं, वह मुशायरे की है। सिवाय इसके कि 'पी लो पी लो ऐ मतवालों के अंदर' जरा सी एलाब्रेणटम है जो कि मुशायरों में... यानी मुल्ला के अन्दर जो कविता है उसमें मैंने अपनी मुशायरों की धुनों को फीड करके जैसे मैं गाता हूँ, उसको वहां रख लिया, तो इस तरह का मिश्रण है, कई चीजों का और छत्तीसगढ़ी लोकगीतों के अलावा गुजराती लोकगीत जैसे 'ना रे चढ़ीया.....गाकर बताते हैं। वह गुजराती है।''*[49]

---

47 तिवारी,कपिल; व्यक्तिगत बातचीत; 14/ 07/ 2018

48 अंकुर, देवेन्द्र राज; रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2006, पृ. 42

49 प्रो. कमला प्रसाद (सं.); कलावार्ता; अंक 103, 2003; पृ. 62

4.1 नाट्य रूढ़ियाँ

भारतीय एवं पाश्चात्य नाटकों के निर्माण में पारम्परिक रूप से जिन विशेष सिद्धांतों का पालन अनिवार्यतः होता रहा है, उन्हें नाट्य-रूढ़ियाँ कहते हैं।[50] ये नाट्य रूढ़ियाँ कई है। जैसे- पूर्वरंग, नान्दी, प्ररोचना, प्रस्तावना, सूत्रधार,नाट्य-वर्जनाएं, भरत-वाक्य। देखा जाए तो संस्कृत और हिंदी के पुराने नाटकों में उपरोक्त नाट्य रूढ़ियों का प्रयोग होता रहा है। लेकिन अब हिंदी नाटक और रंगमंच पर इन नाट्य रूढ़ियों का प्रयोग (कुछ अपवादों को छोड़कर) कम ही देखने को मिलता है। इस कड़ी में हबीब तनवीर भी पीछे नहीं हैं। उन्होंने अपने नाटकों में नाट्य रूढ़ियों का बहिष्कार किया है। यहाँ ध्यान देने की बात यह कि उन्होंने नाट्य वर्जनाओं (निषेध) का खुलकर रंगमंच पर प्रयोग किया। ये नाट्य-वर्जनाएं देश-काल की सीमाओं के अनुसार निर्धारित होती हैं। जिस देश में जैसी संस्कृति और सभ्यता होगी, उसी के अनुकूल नाट्य-निषेध भी निर्धारित किए जायेंगे। इस प्रकार, नाट्य के वर्जित उपकरणों में अन्तर का होना स्वाभाविक है। जैसे भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार रंगमंच पर चुम्बन का दृश्य वर्जित माना गया है। पर पाश्चत्य नाटकों में ऐसा निषेध नहीं किया गया। क्योंकि वहां इसे एक सामाजिक शिष्टाचार माना गया है।

देखा जाए तो नाट्य-वर्जनाओं के मूल में तीन बातों की प्रमुखता दिखाई पड़ती है। 1. लोकाचार, 2. लोकहित, 3. रंगमंचीय व्यवस्था। इन तीनों बिन्दुओं को देखते हुए 'नाट्यशास्त्र', 'दशरूपक', 'नाट्यदर्पण', 'साहित्यदर्पण', 'भाव प्रकाशन' आदि ग्रंथों में नाट्य-वर्जनाओं का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इन वर्जनाओं में युद्ध, राज्यक्रांति, मरण, वध, लम्बी यात्रा, परिधान-परिवर्तन, स्नान, जल-क्रीडा, भोजन, शाप, अनुलेपन, विवाह, सम्भोग, मद्यपान, धूम्रपान, परित्याग, नगर घेरा आदि को प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर दिखाना मना है। आवश्यक होने पर

[50] झा 'श्याम', डॉ. सीताराम; नाटक और रंगमंच;; बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; संस्करण 2000; पृ. 59

प्रवेशक के द्वारा उन वस्तुओं, घटनाओं की सूचना ही दे देना ठीक है।

आज सामाजिक परिवर्तन के इन नाट्य-वर्जनाओं का विधान उपेक्षित सा हो गया है। सिनेमा में तो निषेध नाम की कोई चीज़ ही नहीं रह गयी है और अब नाटकों में भी प्रायः ऐसा कुछ नहीं माना जाते लगा है। हबीब तनवीर के नाटक इसके प्रमाण हैं। वे अपनी प्रस्तुति में उन सभी दृश्य आदि को दिखाते हैं जिनका संस्कृत में दिखना वर्जित था। 'आगरा बाज़ार', 'चरनदास चोर', 'मिट्टी की गाड़ी', 'देख रहे हैं नैन', 'हिरमा की कहानी', 'गाँव का नांव ससुराल मोर नांव दामाद', 'एक औरत हिपेशिया भी थी' आदि नाटकों में इन नाट्य-वर्जनाओं को देखा जा सकता है। नीचे दिए गए विभिन्न चित्रों (क्रमांक 25 से 32 तक) से इसे स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

चित्र- 25
(धूम्रपान करते हुए दृश्य)

चित्र- 26
(खाना खाते हुए दृश्य)

चित्र- 27
(हत्या का दृश्य)

चित्र- 28
('मिट्टी की गाड़ी' में देवसेना सोते हुए)

चित्र- 29
(देख रहे हैं नैन में युद्ध का दृश्य)

चित्र - 30
(देख रहे हैं नैन में विराट का वस्त्र बदलना)

चित्र - 31
(गाँव का नाम ससुराल...में मानती के विवाह का दृश्य)

चित्र - 32
('देख रहे हैं नैन' में राजा और दासी का मिलन)

इस प्रकार हम देखते हैं कि हबीब तनवीर अपने नाटकों में नाट्य वर्जनाओं का प्रयोग भी एक उपकार की भांति करते नजर आते हैं तथा अन्य नाट्य रूढ़ियों को अपने रंगमंच से बहिष्कार कर देते हैं। इस संदर्भ में 'गाँव का नांव ससुराल मोर नाम दामाद', 'चरनदास चोर', 'मिट्टी की गाड़ी',' देख रहे हैं नैन' आदि नाटक प्रमाण के रूप में हमारे समक्ष हैं।

कुल मिलकर कहा जा सकता है कि हबीब तनवीर ने पाश्चात्य और भारतीय रंग शैलियों के मेल से अपनी एक अलग शैली निर्मित की थी। सिर्फ भारत के रंगमंच में ही नहीं थियेटर के पूरे विश्व में ऐसे किसी रंगकर्मी की मिशाल मिलना मुश्किल है जिसने लगातार एक ही दिशा में एक ही तरफ के और एक ही ड्रामा ग्रुप के साथ एक ही समूह को लेकर 50 वर्षों तक रंगकर्म किया हो। *''हबीब तनवीर अपनी जमीन से उगे ऐसे रंगकर्मी हैं, जो नए नाट्य-मुहावरे के लिए किसी बाहरी*

शक्ति से नहीं, बल्कि आज के समाज कि स्थितियों, वातावरण और मान्यताओं से ताकत हासिल करते हैं। उनका ये मुहावरा विशुद्ध भारतीय है, मौलिक है। अगर उसे दूर तक देखने की कोशिश करें तो उनका यह मुहावरा हमें नाट्यशास्त्र में वर्णित लोकधर्मी परम्परा से अनायास जोड़ देता है।"[51] लोक गीत-संगीत, लोक जीवन, लोक शैली के प्रयोग से हबीब तनवीर ने यह सिद्ध कर दिया कि हमारी जड़े आज भी गाँव की संस्कृति में हैं। इस संस्कृतियों से जुड़े कलाकारों की रंग प्रस्तुतियां दर्शकों पर गहरा प्रभाव डालती हैं।

[51] भार्गव, भारतरत्न; रंग हबीब; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 2006; पृ. 99